श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुड़की एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रूरल डेवलपमेण्ट' (अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रंन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन
इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी
डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया
द मद्रास पंचायत सिस्टम
द ब्यूटीफुल ट्री
अंग्रेजों से पहले का भारत
भारतीय चित्त, मानस और काल
भारत का स्वधर्म
स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुन: प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :
भारत पीठम्

अंग्रेजों से पहले का भारत

धर्मपाल

अँग्रेजों से पहले का भारत

धर्मपाल

प्रकाशक
भारत पीठम

अंग्रेजों से पहले का भारत

लेखक : धर्मपाल

पहला संस्करण : 2000 प्रतियाँ (मई २000)
दूसरा संस्करण : 2000 प्रतियाँ (मार्च 2002)

प्रकाशक
भारत पीठम
चांडक निवास
शास्त्री चौक, बेचलर रोड
वर्धा – ४४२००१
फोन : (०७१५२) ४२८५१, ८४४४१

सहयोग राशि : 15 रुपये

मुद्रक : कॉन्फीसेक प्रिंटर्स, अहमदाबाद

उन सब लोगों के लिए
जो
भारत की संस्कृति
उसकी सभ्यता
और
उसकी प्रकृति को
भारतीय दृष्टिकोण से
समझना चाहते हैं।

पाठानुक्रम

पूर्व कथन

उत्तर कथन

पूर्व कथन

लोगों को कोरी स्लेट समझ लिया गया

गाँधीजी ने १९२० के शुरू में यंग इंडिया में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हमारी देशज शिक्षा व्यवस्था, कला–कौशल, ब्रिटिश आक्रमण से पहले की देश की सामाजिक स्थिति और ब्रिटिश राज के दौरान फैली कंगाली और १८00 से पहले दक्षिण के परिआ और महाराष्ट्र के महारों की बेहतर स्थिति के बारे में बहुत कुछ छापा। इनके सारे लेखक कोई गाँधीजी के अनुयायी और प्रशंसक नहीं थे। ब्रिटिश वायसराय परिषद के सदस्य शंकरन नायर जैसे लोगों ने भी इसी तरह की बातें लिखी थीं।

गाँधीजी ने अपने बहुत सारे लेखों और भाषणों में, खासतौर पर १९०९ में लिखे गए हिंद स्वराज में, भारतीय समाज और उसकी व्यवस्था, उसके इतिहास में किस तरह चली है, इसकी अपने तरीके से भरी पूरी जानकारी देने की कोशिश की थी। हिंद स्वराज में सत्याग्रह के बारे में उन्होंने लिखा कि भारत में इसकी बहुत पुरानी परंपरा रही है और इसका उदाहरण भी उन्होंने दिया है। मेरा विश्वास है कि भारतीय समाज और उसकी दृष्टि के बारे में अपनी इस गहरी समझ के कारण ही देशवासियों से उनके तार इतनी आसानी से जुड़ सके थे कि उनकी बात भारत के लोग मानते चले गए। उन्होंने १९४४ में कहा भी था कि भारत लौटने के बाद उन्होंने तो उसे सिर्फ स्वर दिया था जिसे लोग महसूस करते और खुद जानते थे। यह जरूर सही है कि देश के लोगों के साथ जुड़े हुए उनके तार के अलावा उनकी संगठनात्मक शक्ति और नेतृत्व की क्षमता को भी देश में आए परिवर्तन का श्रेय दिया जाना चाहिये।

इस सबके बावजूद हिंद स्वराज में गाँधीजी ने जो कहा और यंग इंडिया या दूसरे स्थानों पर भारतीय समाज और उसकी राज्य व्यवस्था के बारे में जो कुछ छपा, उसे स्वतंत्रता लेने के बाद देश को चलाने वाली संस्थाओं ने बहुत कम आत्मसात् किया। सरकारी और गैरसरकारी स्तर

पर आज भी वही व्यवस्था चल रही है जिसे १७६0 से १८३0 के बीच भारतीय संस्थाओं और ताने–बाने को नष्ट करके अंग्रेजों ने बनाया था। या फिर अपनी सत्ता को मजबूत करने के लिये अंग्रेजों ने जो ढाँचा खड़ा किया था उसी को आदर्श मानकर हमने अपना ढाँचा बनाया है।

अब यह कहा जा सकता है कि १९२0 तक देश के प्रभुताशील वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने समाज से अलग–थलग हो चुका था। और उसने अपने निजी या सार्वजनिक जीवन को ब्रितानी विचारों और मान्यताओं के आधार पर ढालना शुरू कर दिया था। गाँधीजी ने कोई २५ साल देश का नेतृत्व किया। कई मोर्चों पर अंग्रेजों का मुकाबला करने और उनका प्रभाव पोंछने के ख्याल से यह कोई लम्बा अरसा नहीं था। यह भी सही हो सकता है कि उनके साथ आए श्रेष्ठिवर्ग ने – जिसे बाद में राजनैतिक सत्ता मिली – भारतीय समाज के बारे में उनकी समझ को गंभीरता से नहीं लिया और यह नहीं सोच सके कि ऐसा भारत आज की समसामयिक दुनिया में टिकाऊ हो सकता है। गाँधीजी को भी प्रिय रहे इस श्रेष्ठिवर्ग के एक अधिक बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा था कि कोई आदमी भला गाँव के लोगों में गुण कैसे देख सकता है, वे तो इतने अज्ञानी होते हैं।

बहरहाल, हमारे श्रेष्ठिवर्ग का यह तबका भारतीय परंपरा को आत्मसात् करके भविष्य का नक्शा न बना पाया हो, मगर उसमें सृजनात्मक प्रतिभा होती तो पश्चिम से उसने जो कुछ सीखा था उसे ही ठीक से पचाकर और भारतीय परिस्थितियों में ढालकर हमारे फायदे की वस्तु बना सकता था। लेकिन ऐसा करने में भी वह अब तक पूरी तरह असफल हुआ है। इस पर ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि कुछ महीने पहले काफी महिमामय लोग इस पर खूब विस्तार से बोल चुके हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि देश की व्यवस्था को फिर से रचने में हमारी यह अक्षमता और भी काफी पहले से है। शायद विजयनगर का राज्य और १८ वीं शताब्दी के आरंभ में मराठाओं ने जो देसी राज्य खड़े करने की कोशिश की थी वह भी आज जैसी ही नाकामयाब साबित हुई थी। बावजूद इसके कि विजयनगर राज्य की प्रेरणा महान आचार्य विद्यारण्य से मिली और मराठाओं के राज्य की प्रेरणा समर्थ रामदास ने। दोनों की कोशिशों में

हम अपने समाज और अपनी राज्य व्यवस्था को लोगों की मान्यताओं और विचारों से जोड़कर उसे सुसंगठित और कार्यशील नहीं बना पाए। हो सकता है जब समाज और राज्य व्यवस्था के बीच का संबंध छिन्न–भिन्न हो जाता हो, तो ज्यादातर सभ्यताओं को इसी तरह का बाँझपन भुगतना पड़ता हो और नींद की अवस्था में आ जाना पड़ता हो। ऐसा हो सकता है कि कई शताब्दियों से हम इसी तरह के दौर से गुजर रहे हैं और जल्दी ही ऐसा समय आ जाए जब हमारी राज्य व्यवस्था न सिर्फ हमारे समाज की आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने लगे, बल्कि उसी के विचारों और मान्यताओं के अनुरूप चलती दिखाई दे। यह भी हो सकता है कि मैं नाहक अधीर हो रहा हूँ और देश में पहले से ही ऐसी धाराएँ बह रही हों जो कुछ समय बाद समाज और राज्य व्यवस्था में आज दिखाई देने वाली दरार को निरर्थक बना दें। जब हमने आजादी ली थी तो गाँधीजी ने किसी को लिखा था कि हमें बहुत जल्दी किसी नतीजे की आशा नहीं करनी चाहिए। करीब डेढ़ सौ वर्ष की परतंत्रता ने जो स्थिति पैदा की है, उससे देश को उबारकर, स्वस्थ करने में कम से कम इससे आधा समय लग सकता है।

इस सबके बावजूद मैं जो बेचैनी महसूस करता हूँ वह दूर नहीं होती। मुझे लगता है कि हमारा समाज और हमारी राज्य व्यवस्था जिस तरह की दो अलग–अलग दुनियाओं में बँटती जा रही है उसके पीछे गहरे और दार्शनिक कारण हैं। शायद भारत के लोगों का चित्त और इसके आधार पर जो निजी संसार उन्होंने बनाया है वह एक ऐसी दुनिया से मेल नहीं बैठा सकता, जिसमें वर्गों और क्षेत्रों के बीच एक अनिवार्य विद्वेष रहता हो।

कोई बीस साल पहले तक मैं ग्रामीण पुनर्रचना के कामों में ज्यादा दिलचस्पी ले रहा था। अपने जैसे दूसरे बहुत से लोगों की तरह एक नए भारत को रचने से जुड़े सवालों में मेरी आम दिलचस्पी थी। हो सकता है मैंने भी १९४७ में यह नादानी भरी कल्पना की हो कि ऐसी पुनर्रचना और ऐसा पुनर्जागरण होने ही वाला है। हमारी पीढ़ी के अनेकों लोगों में यह विश्वास कई वर्षों तक चला।

लेकिन जैसे–जैसे साल बीते इन आशाओं पर पानी फिरना शुरू

हो गया। मुझे लगा और मैं सोचता हूँ कि औरों को भी लगा होगा कि अधिकांश क्षेत्रों में हमारी जो उपलब्धियाँ हमें मिली हैं, वे भी भौतिक साधनों की वजह से ज्यादा हैं बजाय हमारी किसी प्रतिभा, पद्धति या सोच–विचार कर किये गये प्रयत्न के। हमारे योजनागत विकास में जो साधन डाले गए उन्हीं का योगदान दिखाई दिया और हमारी इन मामूली उपलब्धियों में किसी मानवीय सामर्थ्य की भूमिका न्यनूतम रही। उन्हीं दिनों मेरी यह भी राय बनी जो आज भी कायम है कि भारत के आम लोग खासतौर पर ग्रामीण, किसी भी मायने में इंग्लैंड या पश्चिम के दूसरे देशों में रहने वाले वैसे ही लोगों से प्रतिभा, कार्यक्षमता और कल्पनाशीलता में किसी कदर उन्नीस नहीं ठहरते। अपनी मामूली पूँजी और दूसरे साधनों के बावजूद देश की खेती और उद्योग धंधों की सभी जरूरतों को पूरी करके उन्होंने बताया है कि वे बीसवीं सदी मध्य के पश्चिमी किसान और कारीगर के मुकाबले कहीं बेहतर हैं।

इन्हीं बरसों यानी १९५० और १९६० के बीच मैं जानता था कि राष्ट्रीय अभिलेखागार किसे कहते हैं। दिल्ली में मैं इसके पास से भी कई बार गुजरा था। लेकिन मैं यह नहीं जानता था कि हमारे समाज और उसके अतीत या हमारे जीवन से इन अभिलेखागारों का क्या संबंध है। ग्रामीण विकास के विभिन्न केंद्रों और १९५७ के बाद बनी पंचायती राज संस्थाओं की यात्रा के दौरान ग्रामीण इलाकों में मैं जो काम कर रहा था, उससे मुझे यह समझ में आ गया कि हममें से अधिकांश अपने देशवासियों के बारे में ज्यादा नहीं जानते। अपने लक्ष्यों के प्रति हमारी गहरी निष्ठा हो सकती है या अपने देश के लोगों के प्रति हमारा गहरा प्रेम हो सकता है लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि हमारे देशवासी किस तरह सोचते हैं, जब भी कोई समस्या उनके सामने आती है उसे वे कैसे हल करते हैं, उनकी अपनी प्राथमिकताएँ क्या हैं। यहाँ तक कि हमें अपने काम करने के इलाकों के लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के बारे में कुछ नहीं मालूम।

अतीत के बारे में हमारी एक मोटी धारणा बनी हुई है कि हमारे ग्रामीण कोई हजार या उससे ऊपर सालों से बेहद गरीबी में जी रहे हैं। उनके शासकों और उनके सामाजिक व धार्मिक रीति–रिवाजों के द्वारा

उनका भयानक शोषण हुआ है और उन्हें अत्यन्त पीड़ाजनक स्थितियों में रखा जाता रहा है। इन परिस्थितियों ने उन्हें कुंठित कर रखा है। वे या तो दिग्भ्रमित रहते हैं या अंधविश्वास और पूर्वाग्रहों के शिकार। इन मान्यताओं के आधार पर हमने यह नतीजा निकाल लिया है कि हमें यानी नए भारत के निर्माताओं को कोरी स्लेट पर अपनी इबारत लिखनी है और इसलिए उस पर जैसा चाहें वैसे विचार और व्यवस्था की छाप लगा सकते हैं। हमने यह सोचने की जरूरत नहीं समझी कि इन लोगों की अपनी कोई स्मृति है, अपने विचार हैं, प्राथमिकताएं हैं, अभिरुचियाँ हैं। जब ऐसा सोचा भी गया तो उसे महत्वहीन मानकर दरकिनार कर दिया गया। और जब, हम इन कोरी स्लेट मान लिए गए लोगों पर अपनी मान्यताएँ रोप नहीं पाये या इन मान्यताओं को कोई स्थायी रूप नहीं दे पाए तो हमें बुरा लगा और अक्सर हमें इन लोगों पर गुस्सा आया जिनके बारे में हम सोचते हैं, कि हम अपने सुख–चैन को ही नहीं, अपने जीवन तक का बलिदान किये हुए हैं। अगर मुझे यह कहने का अधिकार हो तो अब तक जो मैंने कहा है वह एक मायने में उस पूरी पीढ़ी की ही मान्यता रही है जो किसी सामाजिक या सार्वजनिक काम में इधर लगे हुए रहे।

उधार की आँखों से देखना समझना

राजस्थान पंचायतों का अध्ययन करते हुए १९६१ में मुझे अपने गाँववालों के बारे में एक बिल्कुल दूसरी समझ हासिल हुई। सवाई माधोपुर जिले के एक गाँव में हमें पता चला कि वहाँ सिंचाई के कुछ जलाशय हैं। चूँकि पंचायत के दस्तावेजों में उनका कोई जिक्र नहीं था इसलिए मैंने वहाँ के लोगों से पूछा कि इनमें क्या कभी कोई परिवर्तन हुआ है। उन्होंने बताया कि उनकी जब तब मरम्मत की जाती रहती है। मैंने पूछा कि कौन उनकी मरम्मत करता है तो जवाब मिला हम। मैंने पूछा 'हम' से क्या मतलब पंचायत से? उन्होंने बताया कि इसका मतलब पंचायत से नहीं, उन लोगों से है जिनके खेतों को इससे पानी मिलता है।

उन्होंने यह भी बताया कि किस तरह इन जलाशयों की मरम्मत के लिए श्रम और दूसरे साधन एकत्र किए जाते हैं। जब मैंने पूछा कि पंचायत उनकी मरम्मत क्यों नहीं करती तो उन्होंने बताया कि यह पंचायत का काम नहीं है। मेरे पूछने पर, कि फिर पंचायत का क्या काम है उन्होंने जवाब दिया कि उसका काम विकास करना है और विकास का मतलब होता है वे कार्यक्रम जिन्हें सरकार उनके लिए तय करे। उनकी समझ से उन जलाशयों की मरम्मत विकास के किसी कार्यक्रम में नहीं आती। इसलिए उन्होंने मान लिया कि यह काम ऐसा है जिसे उन्हें खुद करना है। जैसे कि सैकड़ों सालों से वे करते चले आ रहे हैं। इस गाँव को देखने के लिए हम पूरे दल के साथ वहाँ गए थे जिसमें योजना आयोग के पूर्व सदस्य, एक युवा आई.ए.एस. अफसर और उस इलाके के बी.डी.ओ. महोदय भी थे।

उसी शाम हमने इस गाँव व शहर–पंचायत का दौरा भी किया। इस पंचायत ने कुछ ही महीने पहले एक विशाल पंचायतघर बनावाया था जिसमें हम उस समय बैठे हुए थे। पंचायत के दस्तावेजों को पलटते हुए मैंने उनसे पूछा कि कागजों में कहीं उस पंचायत घर को बनाने के फैसले दर्ज नहीं हैं, लेकिन बनाने के लिए इकट्ठे किए गए पैसे का हिसाब जरूर

दर्ज है। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने यह फैसला कब और क्यों लिया था। उन्होंने बताया कि एक और पंचायत है जिसमें गॉव के सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व है और उसे "बीस बिस्वा" पंचायत कहते हैं। इस पंचायत घर को बनाने का फैसला कानून द्वारा बनाई गई पंचायत में क्यों नहीं लिया गया। मुझे याद आता है कि उन्होंने कानून–पंचायत की जगह सरकारी–पंचायत शब्द कहा था और बताया था कि पंचायतघर बनाने का फैसला लेने की जगह वह नहीं है। फिर भी मैंने पूछा कि ऐसा ही कोई फ़ैसला उन्हें दुबारा लेने की जरूरत पड़ी तो वे क्या करेंगे? उन्होंने दो टूक जवाब दिया कि यह फैसला कानूनी पंचायत के बजाय अपनी "बीस बिस्वा" पंचायत में ही लेंगे।

कुछ महीनों के बाद इसी तरह की बातें मैंने आंध्र प्रदेश के गॉव मे सुनी। उसके बाद १९६२ के दौरान मैं जगन्नाथपुरी में था और पुरी जिला परिषद के अध्यक्ष से मिलने गया। उन्होंने मुझे नई पंचायतों की कमियाँ बताई। उनके अधिकारों और साधनों की कमी का जिक्र किया। और जैसा कि ऐसे मौकों पर सुनने को मिला है, पंचायतों को लेकर उन्हें अनेकों तरह की शिकायतें थीं। मैंने उनकी ज्यादातर बातों से सहमति जताते हुए पूछा कि पहले के समय में पंचायतों की क्या हालत थी? तब उन्होंने बताया कि पुरी के आसपास ही कोई ५२ शासन गॉव थे, जहाँ जमीन में सभी प्रकार का साझा स्वामित्व था। यह व्यवस्था सदियों से चली आई थी लेकिन जब १९३७ में हमने खेतिहर को जमीन देने के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करना शुरू किया तो यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

मेरे आग्रह पर उन्होंने ऐसा एक गॉव देखने की व्यवस्था कर दी। उस गॉव की यात्रा के बाद मेरी राय बनी कि जहाँ तक सुन्दरता का, गॉव की योजना का, खेती और नारियल या दूसरे पेड़ों को लगाने तथा दूसरी सामाजिक सुविधाओं का सवाल था, इस गॉव की तुलना इजराइली किबुत्जिम या इंग्लैंड यूरोप के किसी दूसरे देश के गॉव से की जा सकती है। मुझे बताया गया कि गॉव था तो मुझे शंका हुई कि शायद वह कोई विशेष गॉव रहा हो। लेकिन उन्होंने भरोसा दिलवाया कि ५२ शासन गाँवों में से कई गॉवों में दूसरी जातियों के लोग रहते हैं और कई गॉव तो मछुआरों

के हैं मगर सब की योजना और व्यवस्था एक जैसी ही है।

१९६२ के बाद मुझे ऐसे गॉवों की झलक दक्षिण के बहुत से इलाकों में मिलने लगी, खासतौर पर तमिलनाडु के इलाकों में, जहाँ मैं अक्सर जाता रहा। १९६४ में मुझे तंजावुर में बताया गया कि १९३७ तक वहाँ ऐसे सौ गॉव थे जिन्हें समुदाय गॉव कहा जाता था। इन्हें भी कानून के जरिये खेतिहरों को जमीन देने वाले राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करते हुए भंग कर दिया गया। यह भी पता लगा कि समुदायम व्यवस्था वाले तंजावुर के इन गॉवों के बारे में आचार्य विनोबा भावे को भी बतलाया गया था जब वे १९५६–५७ में वहाँ आये थे। लेकिन इस जानकारी का उन पर कोई असर पड़ा दिखाई नहीं दिया। बाद में मैंने अपने एक सर्वोदय के मित्र से इस बात का जिक्र किया तो पलट कर उन्होंने पूछा कि मैं विनाबा से कैसी प्रतिक्रिया की आशा कर रहा हूँ? मैंने कहा कि मैं विनोबाजी से समुदाय गॉवों पर कोई शोध करने की आशा तो नहीं करता लेकिन अगर उन्होंने महसूस किया होता कि उनकी ग्रामदान की अवधारणा इन समुदाय गॉवों के विचार के जरिए मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक स्तर पर अपने समाज से जुड़ सकती है तो इसे वे अपने अनुयायियों को जरूर बताते और उनमें से कई उनके इस विचार की सार्थकता सिद्ध या असिद्ध करने में उनकी मदद कर सकते थे।

इस ब्यौरे का, कि मैं महालेखागार में रखी हुई सामग्री के प्रति कैसे आकर्षित हुआ, एक मनोरंजक किस्सा गॉव पंचायत की कानूनी तौर पर एक निश्चित अवधि के बाद अनिवार्य रूप से होने वाली बैठकों को लेकर है। तमिलनाडु की पंचायतों के अध्ययन के आरंभिक दौर में १९६४–६५ के आसपास मैंने पाया कि बहुत सारी पंचायतों की बैठक इसलिए नहीं हो पाती कि इन बैठकों के लिए कोई इमारत नहीं है। इसलिए कानूनी अनिवार्यता की खानापूरी के लिए प्रस्तावों को सब सदस्यों के घर भेजकर दस्तखत करवा लिए जाते हैं। मुझे लगा कि दलबंदी के कारण पंचायत के सदस्य किसी एक सदस्य या अध्यक्ष के यहाँ बैठक करने के लिए सहमत नहीं होते होंगे। इसलिए मैंने पूछा कि पंचायत की बैठकें स्कूल में क्यों नहीं होतीं? १९६४ में भी तमिलनाडु के ज्यादातर गाँवों में स्कूल की छोटी या

बड़ी कोई न कोई इमारत मौजूद थी। उन्होंने बताया कि काम के दिनों में यानी सोमवार से शनिवार तक स्कूल चलते हैं इसलिए वहाँ उनकी बैठक नहीं हो सकती। तो मैंने कहा कि रविवार को बैठक कर लेनी चाहिए। इस पर उन्होंने बताया कि सरकार के नियम–कानूनों के अनुसार पंचायत की बैठक रविवार को नहीं की जा सकती।

एक या दो साल बाद मुझे पता लगा कि रविवार को कोई सरकारी काम न करने का कानून लगभग १८०० के आसपास बना था। इससे कुछ साल पहले ब्रिटेन में ऐसा ही एक कानून बनाया गया था ताकि सबाथ के दिन यानी रविवार मनाने की कड़ी की व्यवस्था की जा सके। ब्रिटेन में इस कानून के जरिए रविवार को किसी भी तरह का सरकारी कामकाज न किए जाने की व्यवस्था, नाटकों के मंचन को रोकने, ज्यादातर दुकानों को बंद रखने और यहाँ तक कि घरेलू कपड़ों को भी न धोने या सूखने के लिए उन्हें पिछवाड़े डालने के रिवाजों समेत आज भी लागू है और जैसा कि ज्यादातर लोग जानते हैं, आज के आधुनिक इजराइल में भी सबाथ का दिन शनिवार को मनाने के इसी तरह के कड़े प्रावधान हैं।

इन्हीं सब बातों के कारण मेरे मन में यह बात बैठी कि हममें से अधिकांश लोगों का अपने देश की परिस्थिति से संपर्क पूरी तरह टूट चुका है। हमारे देश के लोग स्वभाव से नरम और सहिष्णु हैं और जब उन्हें खाली पेट सोना पड़ता है या बिना कपड़ों के या बिना छत के रहना पड़ता है तो भी वे हम पर पत्थर नहीं फेंकते या सोते हुए हमारी हत्या नहीं कर डालते। इसलिए हमने उन्हें मरे समान या बिल्कुल गूँगा मान लिया है और सोच लिया है कि उनके भविष्य को निर्धारित करने या अपने हिसाब से उन्हें चलाने का हमें अधिकार है। हम अपने लोगों के बारे में तो ऐसे सोचते हैं लेकिन जिन कानूनों, नियमों, प्रतिक्रियाओं और योजनाओं के जरिये हम इस देश पर शासन कर रहे हैं और जिनके जरिए हमें लगता है कि हम नए भारत का निर्माण कर लेंगे, उनके बारे में हम कुछ नहीं जानते और न हम उन्हें समझते हैं।

मद्रास में सबसे पहले सरकारी रिकार्ड पर मेरी नजर गई जो ज्यादातर बीसवीं सदी से संबंधित थे, लेकिन उनमें से कुछ उन्नीसवीं सदी

के बारे में भी थे। मद्रास अभिलेखागार के इन दस्तावेजों को देखते हुए दो बातें मेरी समझ में आई। पहली यह कि १८०५ के आसपास तंजावुर जिले में कोई अठारह सौ गाँव ऐसे थे जिन्हें समुदायम गाँव कहा जाता था और वे इस जिले के कुल गाँवों के करीब तीस फीसदी थे। दूसरी यह कि ब्रिटिश सरकार ने बंगाल और मद्रास दोनों प्रेसीडेंसियों में कुल कृषि उपज का पचास फीसदी लगान तय किया था। यह लगान १७६० से १८२० के बीच तय हुआ था जब ब्रितानी लोग इन इलाकों पर पूरी तरह काबिज हो चुके थे। इस खबर ने खासतौर पर मुझे परेशान किया और बाद में जब उसका पूरा अर्थ मेरी समझ में आया तो मैं भौंचक्का रह गया। मैंने इस जानकारी का जिक्र अपने कुछ विद्वान दोस्तों से किया जिनमें राजनेता, योजनाविद्, सरकार में ऊँचे स्थानों पर रहे लोग और भूमि तथा दूसरी ग्रामीण समस्याओं से संबंध रखने वाले कई तरह के लोग थे, जो देश की गरीबी को लेकर मेरी तरह ही चिंतित रहते थे। लेकिन काफी समय तक उनमें से कोई इन आँकड़ों पर विश्वास नहीं कर पाया।

उनमें से एक जो कि एक जिले में कलेक्टर रह चुका था और बाद में मंत्री रहा और योजना आयोग का सदस्य भी, इस आँकड़े के गलत होने के बारे में बिल्कुल निश्चिंत था। उसका मानना था कि कोई भी कृषि, सरकार द्वारा इतने बड़े पैमाने पर लगाया गया लगान बर्दाश्त नहीं कर सकती। मेरे एक दूसरै दोस्त ने, जो इतिहासकार है मगर जिसका २० वीं सदी से ताल्लुक ज्यादा है, कुछ महीने बाद मुझे बताया कि अंग्रेजों ने कुल कृषि उपज के ५0 वीं फीसदी को लगान के तौर पर वसूला जरूर था मगर ज्यादा भारतीय यह जानते नहीं हैं और महत्वपूर्ण लोगों में जो अकेले व्यक्ति शायद इस तथ्य को जानते थे वे भारतीय गणराज्य के पहले प्रधानमंत्री थे। जहाँ तक समुदाय व्यवस्था वाले गाँवों का सवाल है भारतीय योजना आयोग में भूमि सुधार विभाग के एक पूर्व अध्यक्ष का कहना था कि तंजावुर जिले में ऐसे कोई गाँव नहीं हो सकते, क्योंकि भारतीय भू–कानूनों के बारे में १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए विद्वान बेवरिज ने ऐसा कुछ नहीं लिखा है।

इसी तरह की घटनाओं और अनुभवों ने मुझे इस दिशा में निरंतर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया और तभी मुझे पता लगा कि भारत के

अभिलेखागार में जमा सामग्री का क्या अर्थ है और वह हमारे किस उपयोग की है। अभिलेखागारों में रखी हुई सामग्री के आधार पर मैंने भारत के समाज और राज्य व्यवस्था को किस तरह समझा है इसके बारे में कुछ कहने से पहले मैं एक तो अपनी ब्रिटिश रिकार्ड पर पूरी निर्भरता के बारे में बताना चाहूँगा। यह सचमुच काफी अफसोस की बात है। लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूँ भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की बुनियादी सूचनाएँ देने वाले कोई विस्तृत भारतीय रिकार्ड आजादी प्राप्त करने के आज चार दशक बाद भी उपलब्ध नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ पुरातत्वीय काम को छोड़ कर अपने अतीत, खासतौर पर अपने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वरूप, विस्तार और उसके नियामक नियमों के बारे में कोई जानकारी इकट्ठी नहीं की गई।

मेरा विश्वास है कि ऐसे भारतीय रिकार्ड हैं जरूर। हो सकता है वे हर गाँव, कस्बे या जिले में अब मिलें, लेकिन इतने बड़े देश में अभी भी ऐसी दर्जनों जगहें निकल आएँगी जहाँ इस तरह के रिकार्ड मौजूद हों। इस तरह की सामग्री भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्रों, पुरानी रियासतों या राजकीय परिवारों, पुराने सेठों और साहूकरों या जो लोग पारम्परिक रूप से पंजीयक या हिसाब किताब रखने का काम करते रहे उनके परिवारों में मिल सकती है। भारत के गाँवों में भी विस्तृत रिकार्ड रखे जाते थे। इसका साक्ष्य ब्रिटिश दस्तावेजों और दूसरे स्रोतों से मिलता है।

अब तक हमारा इतिहास ज्यादातर दरबारी इतिवृत्तों और ताम्र अभिलेखों, विदेशी यात्रियों के यात्रा वृतांतों आदि पर आधारित रहा है। इस इतिहास लेखन की दिशा और स्वरूप, तथ्यों पर कम विचारात्मक आग्रहों पर ज्यादा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोप की इतिहास–दृष्टि के अनुसार समाज के विकास में सामंतवाद एक सीढ़ी के तौर पर जरूर होना चाहिए, इसलिए यह मान लिया गया कि भारत में भी एक दौर जरूर होगा। यूरोपीय मान्यताओं के अनुसार समाज एक दिशा में या सर्पिल गति से बढ़ता है इसलिए मान लिया गया कि भारत में भी ऐसा ही हुआ होगा। यानी १८३० में, जिसके बारे में कुछ प्रकाशित आँकड़े मौजूद हैं, कि भारत के लोगों का जीवन स्तर एक निश्चित था तो उससे ६0 या १00 बरस पहले

जीवन स्तर इससे निम्न पर ही रहा होगा। इसी तरह एक डच यात्री ने जहाँगीर के शासनकाल में पाया कि भारतीय भोजन उसकी रुचि या हाजमे के अनुकूल नहीं बैठ रहा तो मान लिया गया कि उस समय का भारतीय भोजन बहुत खराब और तकलीफदेह था और आम लोग भयानक हालत में रह रहे थे। इस डच यात्री की शिकायत दरअसल यह थी कि भारत में गाय के माँस पर पाबंदी लगी हुई थी। उस यात्री ने यह भी लिखा है कि भारत में आगरा जैसी जगहों में मामूली से मामूली मजदूर को भी मक्खन मिली हुई खिचड़ी रोज खाने को मिल जाती थी। उसके इस कथन की सुविधापूर्वक उपेक्षा की जाती है।

या जैसा कि हाल में प्रकाशित हुआ भारत का एक प्रसिद्ध आर्थिक इतिहास बताता है कि हमारे मध्यकाल में यहाँ राजाओं, कुलीनों और उनके आसपास रहने वाले लोगों की जिंदगी काफी तड़क–भड़क से भरी हुई थी। इसका उदाहरण देते हुए इस प्रसिद्ध इतिहास ने १७३६ के दिल्ली के लेखक उद्रण का जिक्र किया है, जिसने लिखा है कि दिल्ली के बाजारों में इन दिनों एक कुलीन नौजवान अपनी आम जरूरतों पर एक लाख रुपये तक उड़ा देता था। यह बात खिल्ली उड़ाने के लिए कही गई है या उस समय की स्थिति बताने वाली, इस पर कोई गंभीर टिप्पणी है इसकी जाँच–पड़ताल नहीं की गई। इस उद्धरण का उपयोग सिर्फ यह साबित करता है कि उस जमाने में यानी अंग्रेजों से पहले भारत में राजाओं–महाराजाओं और अमीर लोगों का रहन–सहन बहुत खर्चीला था। इसीलिए आम लोगों की जिंदगी बहुत तकलीफ में रही होगी। या सत्रहवीं शताब्दी का एक यूरोपीय लेखक कहता है कि उस समय दिल्ली पेरिस जितनी बड़ी दिखती थी और पेरिस में उन दिनों पाँच लाख लोग रहते थे तो मान लिया गया कि दिल्ली में भी उतने ही रहते होंगे। अथवा सत्रहवीं शताब्दी का कोई दरबारी इतिहास कहता है कि मुगल साम्राज्य (क्षेत्रफल के हिसाब से इसका मतलब जो रहा हो) में ५0 लाख की फौज थी तो यह कल्पना करके कि स्त्रियों और बच्चों समेत ३0 लोगों पर एक सैनिक होता होगा, यह मान लिया गया कि उस समय देश की जनसंख्या १५ करोड़ रही होगी।

अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी

अपने अध्ययन के लिए मैंने १८ वीं और १९ वीं शताब्दी को ही क्यों चुना, इसका भी कारण है। मैं १८ वीं शताब्दी के मध्य बिंदु को भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण मानता हूँ। अगर हमारे पास १७०० के आसपास के रिकार्ड होते तो मैं उन्हें निश्चय ही १७५० के बाद के रिकार्ड से ज्यादा पसंद करता। क्योंकि अगर वे बाद के इन ब्रिटिश रिकार्डों जितनी तफसील देते तो इनके मुकाबले वे भारतीय जीवन की ज्यादा सच्ची तस्वीर पेश करते। मद्रास में और दूसरे अभिलेखागारों में सूरत और बंगाल जैसे इलाकों से संबंधित ऐसी कुछ सामग्री जरूर है जो १७५० से पहले के बारे में बताती है। १६६० के मद्रास के रिकार्ड बताते हैं कि अंग्रेजों को दक्षिणवर्गीय और वामवर्गीय जातीय समूहों से कितनी दिक्कत हुई थी और उन्होंने मद्रास के अंग्रेज अधिकारियों का कितना विरोध किया था।

ऐसे भी रिकार्ड हैं जो बताते हैं कि १७५० से पहले के समय में मद्रास में फौज को और पुलिस को कृषि उपज का एक निश्चित अंश मिलता था और इसके बदले यह उनका कर्तव्य था कि वे स्थानीय गड़बड़ी की घटनाओं और चोरी आदि के समय उनकी रक्षा करें। अगर पुलिस चोरी गए सामान को हासिल करके लौटाने में नाकामयाब होती थी तो उसे चोरी गए सामान के बराबर भरपाई करनी पड़ती थी। लेकिन १७५० से पहले के ब्रिटिश रिकार्ड उस समय के सामाजिक और राजनैतिक ढाँचे के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं देते। अलबत्ता १६२० के आसपास के हेनरी लार्ड के लिखे सूरत के बनियों और पारसियों से संबंधित कुछ ब्यौरे जरूर हैं या फिर पीटर डेला वेला के १७ वीं शताब्दी के मध्य के ब्यौरे हैं जो दूसरी चीजों के साथ कर्नाटक के एक स्कूल और उसमें चलने वाली पढ़ाई के बारे में जानकारी देते हैं।

१७५० के बाद के अंग्रेजी रिकार्ड अपने इलाके पर अंग्रेजी प्रभुत्व से एक दो दशक पहले के समाज की तरफ इशारा जरूर करते हैं। इन ब्यौरों में जानकारी के स्वरूप विस्तार और गुण के ख्याल से भिन्नताएं होना स्वाभाविक हैं, और वह इस पर निर्भर करता है कि ये रिकार्ड किस इलाके के हैं और उन्हें किसने तैयार किया। लेकिन भारतीय समाज के इस दौर को समझने के लिए, कि किस तरह उसे नष्ट किया गया, किस तरह के विचारों और ढाँचे के जरिए उसे दूसरी शक्ल में ढालने की कोशिश की गई, ज्यादा उपयोगी सामग्री ब्रिटेन के अभिलेखागारों में मिलती है; क्योंकि नीतियाँ और यहाँ के लिए नया ढाँचा ब्रिटेन में ही बनाया गया था। राजनैतिक, शैक्षिक और व्यापारिक स्तर पर जिस तरह के सोच–विचार ने इन नीतियों को और इस पूरी रणनीति को पैदा किया वह ब्रिटेन के ही आंतरिक दस्तावेजों में मिल सकती है। मद्रास, कलकत्ता, बंबई, लखनऊ और दिल्ली के अभिलेखागारों में तो वे अंतिम निर्देश ही मिल सकते हैं जो अमल में लाने के लिए यहाँ के अंग्रेज अधिकारियों के पास पहुँचे। बहरहाल, आज जिन्हें हम भारतीय अभिलेखागार कहते हैं उनमें ले देकर अंग्रेजी रिकार्ड ही हैं या बहुत मामूली संख्या में वे दस्तावेज हैं जिन्हें अंग्रेजों ने पुराने भारतीय स्रोतों से इकट्ठा किया था या उनकी नकल करवाई थी।

अंग्रेजों से पहले के भारतीय समाज को समझने के लिए मुझे १७४० से १८३० के बीच के ब्रिटेन के अंदरूनी दस्तावेज ज्यादा उपयोगी दिखाई देते हैं। यह बात सही है और मैकाले ने भी कहा है कि १८३० में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी वैसी ही थी जैसी वह १६०० में बनते समय थी। शुरू से ही ब्रिटिश सरकार ने उसे शाही फरमान के जरिए एक संप्रभु संस्था की तरह दूसरे इलाकों को विजित करके उन हुकूमत चलाने के पूरे अधिकार दे रखे थे। इंग्लैंड में और पश्चिमी यूरोप के दूसरे देशों में दूसरी अनेक कंपनियों को भी १४८० के बाद से इसी तरह के अधिकार दिए जाते रहे थे। १४८० के आसपास इंग्लैंड के हेनरी सप्तम् ने जान केबाट और उसके बेटे को शाही झंडे के नीचे, 'किसी भी किले, शहर या द्वीप या मुख्य भूमि जहाँ भी संभव है', पर कब्जा करने या उसे बनाने के अधिकार दिए थे। यह इलाका पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी समुद्र में चाहे कहीं भी हो अगर वहाँ

रहने वाले लोग अधार्मिक और जंगली हैं और अब तक ईसाई धर्म से वंचित हैं तो राजा ने इन्हें विजित करने, उन पर कब्जा करने और राज्य करने के अधिकार दे दिए थे। एक ही शर्त थी कि यहाँ से होने वाली आमदनी का पाँचवाँ हिस्सा वे राजा के खजाने में जमा कर देंगे।

यूरोप के दुनिया भर में हुए विस्तार को समझने के लिए यह याद रखना जरूरी है कि ये सब कंपनियाँ यूरोप के विभिन्न राज्यों की औजार थीं। उन मौकों पर भी जब उन राज्यों और कंपनियों के बीच कोई झगड़ा पैदा हो जाता था वे राज्य द्वारा सैनिक और राजनैतिक संरक्षण पाए रहती थीं। और जब किसी कंपनी, खासतौर पर ब्रिटिश कंपनी ने, दूसरे इलाकों में जाकर विजय करना और राज्य करना शुरू किया, इस विजित इलाके का वास्तविक नियंत्रण ब्रिटिश राज्य के हाथों में जा पहुँचा। औपचारिक तौर पर कुछ उदाहरणों में शासन चाहे कंपनी के हाथ में ही रहा हो, जैसा कि भारत के मामले में १८५८ तक रहा, लेकिन फैसले लेने और राजनैतिक तथा सैनिक नियंत्रण में ब्रिटिश राज्य की ही निर्णायक भूमिका रहती थी। और कंपनियों को जो भी निर्देश भेजे जाते थे ब्रिटिश हुकूमत उनकी अनिवार्य तौर पर जाँच करती थी, उन्हें सुधारती थी और मंजूरी देती थी। भारत के मामले में १७८४ के बाद इसे कानूनी तौर पर अनिवार्य बना दिया गया था। लेकिन १७५० से ही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के बारे में कोई बड़ा निर्माण ब्रिटिश हुकूमत से पूछे बिना नहीं ले सकती थी। उदाहरण के लिए १७५० में मराठा सेनापति आंग्रे पर किया गया अंग्रेजी आक्रमण ब्रिटिश सरकार की नीति का और उसके निर्देशों का परिणाम था। इसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को कोई पहल नहीं करनी थी।

आमतौर पर ऐसा मान लिया गया है और इसमें पश्चिम के उदारवादियों की काफी भूमिका रही है कि पश्चिमी देशों ने खासतौर पर अंग्रेजों ने दुनिया भर में तो बर्बरता दिखाई मगर अपने यहाँ उन्होंने लोकतांत्रिक और उदारवादी रुख अपनाया था। यह मान्यता सच्चाई से कोसों दूर है। भारत में अंग्रेजों ने जो किया, वह इंग्लैंड में ११ वीं शताब्दी में हुई नार्मन विजय के बाद से जो कुछ किया गया और जो १८00 के बाद तक जारी रहा, उससे बहुत भिन्न नहीं था। १६ वीं शताब्दी के बाद यही व्यवहार

उन्होंने आयरलैंड में किया था और इसी को १६वीं, १७वीं और १८वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका में दोहराया गया। ब्रिटिश सत्ता के उत्तराधिकारी अमरीकियों ने १८ वीं, १६ वीं शताब्दी में अपने तेजी से फैले साम्राज्य में भी यही किया। भारत में फिर उनके द्वारा किया गया विनाश, दमन और उनकी पैदा की हुई अव्यवस्था इन इलाकों के मुकाबले हल्की लगती है। इसकी वजह चाहे देश का बहुत विशाल होना रहा हो, जनसंख्या की सघनता रही हो या यूरोपीय लोगों के प्रतिकूल साबित होने वाली यहाँ की जलवायु रही हो।

ब्रिटेन में १८१८ तक करीब दो सौ छोटे–बड़े अपराधों के लिए, जिनमें पाँच शिलिंग से ऊपर की चोरी भी शामिल है, मृत्युदंड देना कानून सम्मत था। इसी तरह १८३0 तक किसी गंभीर समझे गए अपराध के लिए किसी अंग्रेज सैनिक को खास तरह के कोड़ों से चार–पाँच सौ कोड़े लगाना आम बात थी। भारत में अंग्रेजों द्वारा मृत्युदंड देने, कोड़े लगाने या दूसरी सजाएं दिए जाने की संख्या बड़ी हो सकती है, लेकिन कड़ाई के मामले में भारत में दी गई सजाएं उन्नीस ही साबित होंगी। शायद २0–५0 कोड़े, या कोड़े मारे जाने का विचार ही ज्यादातर भारतीयों को मरा जैसा महसूस करने के लिए काफी था, जिन्हें अंग्रेजी तौर–तरीकों, आदतों और निर्ममतापूर्वक दी जानी वाली सजाओं की आदत नहीं थी। बहरहाल भारत में कब्जा करके बैठे अंग्रेजों या यूरोपियनों के लिए, जिन लोगों पर वे राज कर रहे थे, उन्हें व्यक्तिगत रूप से सजा देना या रास्ते पर लाने की कोशिश करना संभव नहीं था। हालाँकि घरेलू नौकरों को अपने अंग्रेज मालिकों या उनकी पत्नियों द्वारा बेंत से इस तरह पीटे जाने की घटनाएं हुई हैं जिसमें उनकी मौत तक हो गई है। इसी तरह अंग्रेज कलेक्टरों ने गाँवों के मुखियाओं और दूसरे भारतीय अफसरों को इतने कोड़े फटकारे हों कि वह स्वर्ग सिधार गया हो, ऐसा भी हुआ है।

यह स्वाभाविक ही था कि शुरू में अंग्रेज अफसर अपनी निजी हैसियत में या सरकारी हैसियत से न्याय और व्यवस्था के अंग्रेजी कायदे–कानूनों पर चलते दिखाई देते, जिनके जरिए अपराधी समझे जाने वाले लोगों को खड़े–खड़े सजा दे दी जाती थी। लेकिन भारत जैसे बड़े

देश में इस तरह के कायदे–कानूनों पर अमल करवाना बहुत मुश्किल था इसलिए ऐसे ज्यादा नफीस राजनैतिक, आर्थिक और कानूनी तरीके निकाले गए जिनसे यही उद्देश्य साधा जा सकता और ज्यादा बड़े पैमाने पर तथा ज्यादा कारगर तरीके से सजा देते हुए नियंत्रण रखा जा सकता। राजस्व की वसूली के लिए आधी या एक तिहाई स्थानीय आबादी को कोड़े लगाए जाने लगे। शुरू में इनका उद्देश्य इतने बड़े पैमाने पर देश के मनोबल को भीतर से तोड़ना नहीं रहा होगा। लेकिन धीरे–धीरे ये तरीके कारगर दिखाई दिए और १७५० के बाद अगले डेढ़ सौ साल तक देश के एक या दूसरे हिस्से में राजस्व का काफी बड़ा हिस्सा हड़पने के लिए इन तरीकों का इस्तेमाल किया गया। कई इलाकों में तो इस तरह की विपत्ति हर दशक में टूट पड़ती थी।

अंग्रेजी राज के बारे में ये बातें कुछ लोगों को बहुत कड़ी और बढ़ा–चढ़ा कर बतायी गई लग सकती हैं। दो ब्रिटिश दस्तावेज, जिनमें से पहला १६०० में आयरलैंड को कैसे पूरी तरह झुका कर अंग्रेजी अधीनता में लाया जा सकता है और दूसरा १८०० के आसपास दक्षिणी भारत को किस तरह झुकाया और अंग्रेजी अधीनता में डाला जा सकता है, इसका ब्यौरा देने वाले हैं। एक अंग्रेज महाधिवक्ता सर जॉन डेविस ने आयरलैंड के लिए एक प्रभावकारी नीति सुझाते हुए कहा था :–

"आयरलैंड की पूर्ण विजय में दो कमियाँ दिखाई देती हैं। पहली है, उनका नरमी से किया गया दमन और दूसरी है, ढीला नागरिक शासन। जिस तरह किसान को जमीन को अच्छा बीज डालने लायक बनाने के लिए उसे अच्छी तरह तोड़ना और गोड़ना पड़ता है और फिर उसमें खाद डालनी पड़ती है। उसके बाद फौरन उसमें अच्छे बीज डालने पड़ते हैं वरना उसमें जंगली वनस्पतियाँ उग आएँगी। इसी तरह एक बर्बर देश को पहले युद्ध और दमन के जरिए बुरी तरह से तोड़ देना पड़ता है और तभी वह अच्छी सरकार के लायक होता है। मगर जब वह विजित होकर पूरी तरह नियंत्रण में आ जाए और उसे अच्छी सरकार न मिले तो वह फिर अपनी पुरानी और बर्बर अवस्था में लौट सकता है।"

दूसरा दस्तावेज भारतीय मामलों के बोर्ड आफ कमिश्नर्स के

अध्यक्ष हेनरी डंडास ने ग्यारह फरवरी १८०१ को मद्रास प्रेसीडेंसी की सरकार को भेजा था जिसमें उन्हें स्थायी बंदोबस्त के विरुद्ध सलाह दी गई थी :–

"कर्नाटक के कई प्रांतों में बंगाल से, जहाँ सबसे पहले स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया था, गुणात्मक फर्क है। बंगाल के लोग प्रांत सरकार की अधीनता मानने और उसके निर्देशों के अनुसार आचरण करने के लिए अपने आपको तैयार कर चुके थे जबकि कर्नाटक के प्रांतों में ऐसा नहीं है। वे इन फायदों और सुविधाओं को पाने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं। यहाँ कोई लोकप्रिय व्यवस्था लागू करना निरर्थक और उलटे नतीजे देने वाली होगी, जब तक कि वे मानसिक रूप से मिलने वाले फायदों का महत्व समझने लायक न हो जाएं। ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उत्तरी सरकार इलाकों में दिखाई देने वाले विद्रोह और अवज्ञा की भावना को पूरी तरह दबा न दिया जाए। इन इलाकों का इस तरह दमन किया जाना चाहिये कि वे इस सिद्धांत के अनुकूल हो जाएं। इन्हें हमसे जो भी सुविधाएं और ज्ञान मिल रहा है उसके लिए ऋणी महसूस करने लगना चाहिए और इसी तरह हम जो संरक्षण उन्हें दे रहे हैं इसके लिए उन्हें ऋणी महसूस करते दिखाई देना चाहिए। हम इन सिद्धांतों को अनिवार्य समझते हैं।"

संयोग से इन हैनरी डंडास की कोई छह से आठ पीढ़ियाँ भारत में ब्रिटिश हुकूमत से काफी निकट रूप से जुड़ी रहीं, जब तक कि वे १६४७ में यहाँ से कूच नहीं कर गए। इसी तरह के ऐसे कई हजार अंग्रेज परिवार रहे होंगे जो भारत में १७८० से १६४७ तक चले अंग्रेजी राज में काफी ऊँचे स्तर पर उससे जुड़े रहे होंगे।

धरती से शिखर तक था हमारा ढाँचा

अपनी इस लंबी और बेतरतीब भूमिका को समाप्त करने से पहले मैं भारतीय राज्य व्यवस्था में शिखर के लोगों की जीवनशैली के कुछ ब्यौरे देना चाहूँगा। मुगलों के दरबारी इतिहास या यूरोप के प्रसिद्ध यात्रियों के वर्णनों में इन लोगों की जीवनशैली चाहे जितनी वैभवपूर्ण और तड़क–भड़क वाली दिखती हो, अंग्रेजी रिकार्डों से उनकी छवि काफी मितव्ययिता और सादगी वाली निकलती है। यहाँ तक कि मुस्लिम शासन वाले हैदराबाद में भी १७८० में एक सजग अंग्रेज अफसर को राज्य के ऊँचे अधिकारियों और सामान्य नौकरों को पहली नज़र में अलग–अलग पहचान लेना मुश्किल दिखाई दिया था। उसने बताया है कि उन दोनों को अलग करने वाली एकमात्र विशेषता यह थी कि नौकरों के कपड़े कुछ कम उजले दिखाई देते थे। ऐसी बात नहीं है कि उसने यहाँ की सादगी से प्रभावित होकर यह बात लिखी हो। वह तो शायद दोनों के बीच के इस घालमेल से काफी जुगुप्सा से भर गया था।

शुरू के एक प्रभावशाली गवर्नर जनरल के अनुसार हिंदू राजा अपने ऊपर बहुत कम खर्च करते थे। और उसने जो कहा है १८०० के दस–बीस साल बाद तक दूसरे लोगों से भी उसकी पुष्टि होती है। लेकिन उसके अनुसार इन राजाओं में दो बहुत बड़ी बुराइयाँ थीं और वे ये कि राजा अपना काफी धन ब्राह्मणों और मंदिरों पर देते थे। हो सकता है कि उस जमाने में ब्राह्मण और मंदिर का ज्यादा बड़ा अर्थ हो और इनसे सभी तरह की विधाओं में लगे सभी लोगों, और सिर्फ धार्मिक ही नहीं, बल्कि विद्या, संस्कृति और कला या दूसरी रंजक गतिविधियों में लगी सभी संस्थाओं का आशय लिया जाता हो। उदाहरण के लिए भारत के चेचक के टीके लगाए जाने के ब्यौरे में बताया गया है कि यह काम ब्राह्मण किया करते थे। दरअसल जो भी आदमी किसी तरह का बौद्धिक, चिकित्सकीय या कुशलता वाला काम करता था उसे उस समय के काफी जानकार यूरोपीय भी ब्राह्मण ही समझते थे।

इन रिकार्डों से लगता है कि हिमालय से दूरस्थ इलाकों में स्थित केदारनाथ से लेकर तमिलनाडु में तंजावुर या रामेश्वरम जैसे इलाकों तक में तीर्थ यात्रियों को ठहरने और दूसरी तरह की सुविधाएं देने के लिए क्षत्रम् की व्यवस्था थी। इन क्षत्रमों के खर्च के लिए कुछ राजस्व क्षेत्र निर्धारित कर दिए जाते थे जिनमें बंदरगाहों तक के राजस्व स्रोत शामिल थे। केदारनाथ के क्षत्रम् के बारे में तो यह भी व्यवस्था थी कि उसके खर्च से जो राशि बचकर इकट्ठी होती रहे, उसे बारह साल बाद होने वाले पूर्ण कुंभ के समय पूरी तरह खर्च कर दिया जाए और इस तरह रिक्त हुए कोष से फिर शुरूआत की जाए। इसे सुनकर हर्षवर्धन के जमाने के ऐसे ही रिवाजों की, जिनका काफी उल्लेख मिलता है, याद आना स्वाभाविक है। शायद आगे कभी इन रिवाजों के बारे में अधिक जानकारी मिले।

गाँव के स्तर पर भारतीय समाज किस तरह चल रहा था, इसकी काफी स्पष्ट जानकरी १८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध के दस्तावेजों में मिलती है। चिंगलपेट जिले के १७७० के दस्तावेज शायद इसकी सबसे अच्छी जानकारी दे सकते हैं। एक दूसरी तरह से बंगाल के १८०० से पहले के रिकार्ड भी लगभग इसी तरह की कहानी कहते हैं। चिंगलपेट जिले में १७६० से १७७० के बीच कोई दो हजार गाँवों का एक सर्वेक्षण किया गया था। इस सर्वेक्षण में गाँवों के स्वामित्व की कुल जमीन, विभिन्न उद्देश्यों के लिए उसका उपयोग, निवल खेती वाली सिंचित और असिंचित जमीन, गाँवों की विभिन्न संस्थाओं का खर्च निबाहने के लिए छोड़ी गई मान्यम भूमि आदि से संबंधित अनेक तरह के आँकड़े इकट्ठे दिए गए थे। इस मान्यम भूमि का राजस्व एक निर्धारित राजनैतिक संस्था को सौंप दिया जाता था चाहे वह गाँव स्तर पर गठित हुई हो, क्षेत्रीय स्तर पर या राष्ट्रीय स्तर पर। इन राजस्व दायों से उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों के भूमि पर स्वामित्व के ऊपर कोई असर नहीं पड़ता था। इतना ही फर्क था कि अब खेतिहर किसी एक के बजाय दूसरी संस्था को लगान देने लगता था।

इस सर्वेक्षण का सबसे महत्वपूर्ण भाग वह है जिसमें गाँव की कुल उपज में गाँव के भीतर के ताने–बाने और विभिन्न संस्थाओं तथा गाँवों के बीच की दूसरी संस्थाओं के विभिन्न खर्चों के लिए दिए गए अंशदान की

जानकारी मिलती है जिसे कि १८०० से पहले के समय में स्वातंत्र्यम् कहा जाता था। इस तरह अंशदान प्राचीन रीति–रिवाजों और मान्यताओं के हिसाब से ही तय होता था। राजस्व के इस बँटवारे को सिर्फ एक आर्थिक व्यवस्था के रूप में ही देखना चाहिए और उससे क्षेत्रीय राजनैतिक ढाँचे को विभिन्न संस्थाओं के परस्पर महत्व और भूमिका का भी पता चलता है।

चिंगलपेट जिले के पौन्नेरी और करंगुली इलाके के चार–चार गाँवों के आँकड़ों के आधार पर मैं यहाँ कुछ निष्कर्ष देने की कोशिश करूँगा। इन गाँवों को चुनने का कोई विशेष आधार नहीं है सिवाय इसके कि अपने पड़ोस के गाँवों के आँकड़ों से पता चलता है कि उनकी कुल उपज का कोई २५ से ४० प्रतिशत स्वातंत्र्यम् के तौर पर उपयोग के लिए छोड़ा जाता था। संयोगवश यह बता दूँ कि एक प्रमुख अंग्रेज कमांडर और बाद में १८२७–३० तक बंबई के गवर्नर रहे जान मेल्कम ने लिखा है कि मालवा के गाँवों में यह अंशदान कुल उपज का २५ प्रतिशत बैठता था। चिंगलपेट के इन गाँवों में दूसरे भी कई कामों के लिए अंशदान में उनके भाग का जिक्र है। इनमें पाठशाला के शिक्षक, मठम्, सिद्धम्, टमटम वाला, बनिया, फकीर, तेली, बेटिट्या, मस्जिद आदि आते हैं। इनमें से कुछ कार्य दूसरे गाँवों में हो सकता है न होते हों।

इसके अलावा खेती की ज़मीन के छठे हिस्से को मान्यम गाँवों की कोटि में रखा जाता था। बंगाल (१७७० में), कुड्डपे, बेलारी, अनंतपुर आदि जिलों में यहाँ थामस मुनरो ने १८०० से १८०७ के बीच अंग्रेजी प्रभुत्व कायम कर लिया था और दूसरे बहुत से इलाकों में परंपरा से मान्यम माना जाने वाला इलाका पचास फीसदी तक दिखाई देता है। कुछ जगह तो पूरे जिले मान्यम के तौर पर छोड़ दिए गए थे, ताकि वे धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का खर्च निभा सकें। कुछ जगह स्थानीय या क्षेत्रीय सेनाओं के लिए भी ऐसी व्यवस्था दिखाई देती है। बाद के एक अंग्रेजी नोट के अनुसार जो १८३० का है बंगाल प्रेसीडेंसी के जिलों में मान्यम के हकदार लोगों और संस्थाओं की गिनती दसियों हजार तक जाती थी। एक जिले में १७७० के आसपास मान्यम के दावेदारों की संख्या ७० हजार बताई गई है।

चिंगलपेट के आठ गाँवों के आँकड़ों में विभिन्न कर्तव्यों को निबाहने

वाले व्यक्तियों और संस्थाओं को दिए जाने वाले राजस्व के भाग में काफी अंतर दिखाई देता है। लेकिन कुल मिलाकर जिन गाँवों में सिंचाई की सुविधाएँ हैं, राजस्व का चार प्रतिशत उनके लिए छोड़ दिया गया था। इसी तरह देवी, धर्मराज या जिन्हें गाँव के मन्दिर कहा जा सकता था (हालाँकि हमारी जाँच के आठ गाँवों में इस आखिरी कोटि का कोई जिक्र नहीं है) को दिया जाने वाला भाग आमतौर पर ईश्वरन, पेरूमल और पिल्लयार के दूसरे मंदिरों को दिए जाने वाले भाग से ज्यादा होता था। १८१८ के एक अंग्रेजी सर्वेक्षण के अनुसार दक्षिण आरकाट जिले में बड़े, मझोले और छोटे सब मिलाकर कोई सात हजार मंदिर थे और सैकड़ों मठ और क्षत्रम् थे। मद्रास प्रेसीडेंसी के जिन दूसरे जिलों में इस तरह के सर्वेक्षण किए गए वहाँ भी उनकी संख्या तीन से चार हजार तक निकली। एक मोटे अनुमान के अनुसार १८०० में मद्रास प्रेसीडेंसी में मंदिरों, मठों और क्षत्रमों की कुल संख्या कोई एक लाख रही होगी। पूरे भारत में इनकी संख्या कोई पाँच लाख रही होगी। इनमें से शायद पाँच फीसदी मुस्लिम धार्मिक स्थान रहे होंगे और हजार के करीब ईसाइयों के धार्मिक स्थान जो कि ज्यादातर केरल में थे।

गाँवों में कर्नम का, जो कि सभी तरह के रिकार्ड रखने वाला दफ्तर था और वह कोई एक व्यक्ति नहीं होता था, हिस्सा तीन से चार फीसदी तक होता था और तलियार का, जिसका मतलब गाँव पुलिस होता है, हिस्सा करीब तीन फीसदी होता था। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि तलियार, अनाज नापने–तौलने, भूमि विवादों के समय नाप–जोख करने और गाँव के दूसरे प्रशासनिक कामों के लिए पारिया या ऐसी ही दूसरी निम्न जातियों के लोगों की नियुक्ति होती थी, जैसे कि महाराष्ट्र में गाँव की पुलिस में महारों को रखा जाता था। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि पुलिस या पालेगर, जो कि आज के क्षेत्रीय पुलिस महानिदेशक जैसा पद होता था, अगर चोरी गई संपत्ति वापस न दिला पाए तो उन्हें इसकी भरपाई अपने विभाग के लिए मिलने वाले खर्च से करनी पड़ती थी।

इस सर्वेक्षण से निकले आँकड़ों की और भी गहरी छानबीन करने की जरूरत है। मगर एक नजर में ही उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस

समय के समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक सामान्य गरिमा हासिल थी और उसकी सामाजिक और आर्थिक जरूरतों का उचित तरीके से ख्याल रखा जाता था। भारत के सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप हर व्यक्ति को भोजन और आश्रय का सहज अधिकार प्राप्त था और भारत की उपजाऊ भूमि के कारण उनके इस अधिकार की सहज गारंटी भी रहती थी। मध्यकालीन भारत के एक इतिहासकार के अनुसार दिल्ली के एक शासक के खर्च के ब्यौरों में सिर्फ एक मद की जानकारी मिलती है कि वे लोगों को मुफ्त भोजन की व्यवस्था करने पर कुल कितना खर्च करते थे। हो सकता है कि उस समय राज्य के खर्च की सबसे बड़ी मद यही रही हो और यह रिवाज उसने भारतीय समाज की पुरानी परंपरा को देखते हुए चलाया हो।

इन आँकड़ों से यह पता चलता है कि राजस्व में सिर्फ गाँव के भीतर की संस्थाओं के खर्च को पूरा करने की ही व्यवस्था नहीं थी। गाँवों की अंतर्वर्ती धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, हिसाब–किताब रखने वाली और सैनिक संस्थाओं के खर्च की भी व्यवस्था थी। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँव या इसी तरह जनपद और शहर–कस्बे भी अपनी आंतरिक व्यवस्था खुद संभालते थे और उसके खर्च की व्यवस्था करने के कारण ग्राम स्वराज्य जैसी व्यवस्था कहे जा सकते हैं मगर वे किसी माने में भी कटे हुए और अलग–अलग नहीं थे। इसके बजाय स्थानीय ढाँचा, उससे ऊपर के क्षेत्रीय या जनपदीय ढाँचे और वह अपने और ऊपर के ढाँचे की जरूरतों को पूरी करने वाले थे और इस तरह काफी बड़े इलाके की आंतरिक एकता का निर्वाह हुआ करता था। एक तरह से यह वही ढाँचा था जिसकी तरफ गाँधीजी ने सामुद्रिक लहरों के वृत्तों के रूपक के जरिए इशारा किया था जिसका सबसे अंतर्वर्ती वृत्त अपनी स्वायत्तता बनाए रखते हुए भी ऐसे सब कामों के लिए, जिन्हें वह खुद नहीं निभा सकता, अपने से ऊपर वाले वृत्तों को कंधा दिये रहता है।

इस तरह देखा जा सकता है कि उपज का काफी बड़ा हिस्सा समाज के ताने–बाने और छोटी–बड़ी संस्थाओं का खर्च निबाहने के लिए छोड़ दिया जाता था, जबकि शिखर के ढाँचे के लिए, चाहे वह क्षेत्रीय स्तर पर हो या केंद्रीय स्तर पर, काफी थोड़ा भाग छोड़ा जाता था। शुरू के

अंग्रेज अधिकारियों के अनुसार मालाबार में १७४० तक कोई लगान नहीं वसूला जाता था। कन्नड़ जिलों में १५ वीं शताब्दी तक लगान नहीं था और राममाड जैसे जिलों में १७६० तक बहुत थोड़ा लगान लिया जाता था। तिरुअनंतपुरम में १६ वीं शताब्दी के आरंभ तक पाँच से दस फीसदी लगान ही वसूला जाता था। शिखर के राज्य के ढाँचे के लिए भारत में पिछले पूरे इतिहास में बहुत कम भाग छोड़ा जाता रहा है। यह १८00 तक मान्यम भूमि पर खेतिहरों द्वारा चुकाए जाने वाले लगान से भी स्पष्ट है। थामस मुनरो के अनुसार अंग्रेजों द्वारा लगाए गए लगान के करीब एक चौथाई के बराबर ही वह बैठता था। बहुत से मौकों पर तो खेतिहर अपनी इच्छा से मान्यम के अधिकारी को जितना उचित समझता था देता था। बंगाल के कलेक्टर ने १७७0 की अपनी रपट में उन परिस्थितियों का जिक्र किया है जिनमें अंग्रेजों के ऊँचे यानी परंपरागत लगान से चौगुने लगान के वसूले जाने से परेशान होकर लोग अपनी जमीन छोड़ कर मान्यम गाँवों में खेती करने के लिए जाने लगे थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में यह स्थिति १८२0 तक जारी रही और थामस मुनरो को मान्यम के अधिकारियों को धमकाना पड़ा कि उन्होंने किसानों को अपने यहाँ आने दिया तो उन्हें मान्यम की भूमि से हाथ धोना पड़ेगा।

इन आँकड़ों के संदर्भ में यह जान लेना उपयोगी होगा कि १५५६ से १७0७ के बीच शासन करने वाले मुगलों के खजाने में कुल उपज का २0 फीसदी से ज्यादा कभी नहीं पहुँचा था और जहाँगीर के जमाने में तो उसका राजस्व गिरकर देश के कुल अनुमानित उत्पादन के पाँच फीसदी से भी कम रह गया था। यह जानना भी उपयोगी होगा कि चीन में राज्य को दिया जाने वाला लगान १६ वें भाग के बराबर बताया जाता है। उस जमाने में अगर चीन में यह हालत थी तो मानना चाहिए कि पूर्व और दक्षिण पूर्व एशिया के दूसरे देशों में भी मोटे तौर पर यही व्यवस्था होगी। मनु संहिता में कुल उपज में राज्य का भाग अधिक से अधिक छठवाँ बताया गया है, लेकिन आमतौर पर बारहवाँ हिस्सा लिए जाने की बात कही गई है। अंग्रेजों ने १८८0 के बाद अनेक कारणों से मनु संहिता को अत्याधिक महत्व देना शुरू कर दिया था। १८१५ में जब लंदन में भारत की विभिन्न शास्त्रीय

पुस्तकों का अनुवाद और प्रकाशन हतोत्साहित किया जा रहा था, सिर्फ कुल्लुका भट्ट की टीका सहित मनु संहिता के ही पुनर्प्रकाशन को प्रोत्साहित किया गया था।

अलबत्ता, यह सही है कि पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शताब्दी में जमींदारों द्वारा कृषि उपज का ५0 फीसदी से ८0 फीसदी तक हिस्सा वसूला जा रहा था। ऐसा लगता है कि भारत के इतिहासकारों और बुद्धिजीवियों ने अपने पश्चिमी आकाओं से विरासत में यह मान्यता दिल में बिठा ली है कि भारत में वैसी ही स्थिति रहती आई है जैसी पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शताब्दी में दिखाई देती है।

जो गॉव अपने सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थानों के लिए और कानूनगो, देशमुख, पालेगर जैसे सैनिक, राजनैतिक और हिसाब–किताब रखने वाली संस्थाओं के लिए खर्च की व्यवस्था करता था वह शीर्ष के राजनैतिक ढॉचे के लिए भी पॉच फीसदी भाग उपलब्ध कराता था। कुल मिलाकर यह पॉच प्रतिशत काफी बड़ी राशि बैठती होगी क्योंकि उसे हजारों गॉव–कस्बों से इकट्ठा किया जाता था और उसी से गॉधीजी के रूपक का यह सबसे बाहरी वृत्त अपना खर्च चलाता था। हो सकता है कि इतने अल्प साधनों के कारण ही हमारा क्षेत्रीय या केंद्रीय सैनिक ढॉचा इतना कमजोर रहा हो, मगर यह भी हो सकता है कि इस कमजोरी के कारण, साधनों की इस विकेंद्रित व्यवस्था के बजाय सैनिक या सांस्थानिक रहे हों।

मजदूरी भी ऊॅंची थी और शिक्षा भी

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में या क्षेत्र के भीतर भी कई तरह के भूमि बंदोबस्त रहे होंगे। लेकिन उनमें से ज्यादातर जमीन पर गॉव के समाज का सर्वोच्च अधिकार स्वीकार करते थे। ऐसे भी गॉव थे जो समुदायम के आधार पर संगठित थे और जहॉ लोगों का कुल जमीन में हिस्सा तो रहता था लेकिन उनकी जोतें समय--समय पर बदल जाती थीं। गॉंव समाज में शायद सिर्फ खेतिहरों को गिना जाता था और उसमें गॉव के सब परिवारों की गिनती जरूरी नहीं थी। तंजावुर जिले में जहॉ १८0५ में करीब तीस फीसदी गॉव समुदायम के आधार पर संगठित थे। जोतों में इस अदला--बदली का कारण उनका यह सोचना था कि समय के साथ भूमि के उपजाऊपन में परिवर्तन होता रहता है और इसके आधार पर समाज के सदस्यों में असमानता बढ़ सकती है। इसी को रोकने के लिए जोतों की लगातार अदला–बदली करते रहना जरूरी है।

तंजावुर जिले में १८0५ में मिरासदारों, यानी जिनके पास खेती की जमीन का स्थायी स्वामित्व था, की संख्या ६२0४८ बताई गई है और इनमें से ४२ हजार शूद्र जातियों के थे। इसी तरह आज के सेलम जिले में जो उस समय बड़ामहल कहा जाता था, १८00 से कुछ पहले की कुल छह लाख आबादी में ३२४७४ परिआ मानी जाने वाली जातियों से थे। चिंगलपेट जिले के कलेक्टर ने १७६६ में अपने यहॉ ८३00 मिरासदार दर्ज किए हैं, मगर उसका अनुमान था कि उसके जिले में कुल मिरासदारों की तादाद दस गुना रही होगी। १८१७ में तिरुनेलवेली जिले के १0८0 गॉंवों में ३७४६४ मिरासदार गिने गए थे। यह कहना अनावश्यक है कि देश भर में खेतिहरों को स्थायी और वंशानुगत स्वामित्व प्राप्त था और अंग्रेजों ने १७६0 के बाद इसे समाप्त करना शुरू किया। इसका एक कारण तो यह था कि उन्हें ऊॅंचा लगान वसूल करना था और दूसरा यह कि अंग्रेज अपने यहॉ भी किसानों के स्वामित्व के बारे में इससे बेहतर राय नहीं रखते थे।

जहॉ तक कृषि उपज और खेतिहर मजदूरों को दी जाने वाली

मजदूरी का सवाल है जर्नल एडिनबर्ग रिव्यू ने सन् १८०३–१८०४ के अंत में बताया है कि १८०० के आसपास इलाहाबाद–वाराणसी इलाके के खेत मजदूरों को ब्रिटेन के खेत मजदूरों के मुकाबले कहीं ज्यादा वास्तविक मजदूरी मिलती थी। और इस पत्रिका ने आश्चर्य व्यक्त किया था कि कृषि की गिरावट के इस काल में उनकी मजदूरी इतनी ऊँची है तो जब यह मजदूरी तय हुई होगी उस समय उसका वास्तविक मूल्य कितना ज्यादा रहा होगा। मद्रास विश्वविद्यालय के एक अर्थशास्त्री ने हाल ही में हिसाब लगाया है कि चिंगलपेट जिले में १७८०–१७६५ के दौरान १६७५ की कीमतों पर कोई साढ़े सात रुपया प्रतिदिन के बराबर मजदूरी मिलती होगी, जबकि १६७५ में इस इलाके के खेत मजदूर को सिर्फ ढाई रुपया मजदूरी मिलती थी। उस समय इलाहाबाद–वाराणसी क्षेत्र में गेहूँ की उपज इंग्लैंड के मिलते–जुलते इलाकों के मुकाबले दुगुनी थी। यहाँ यह भी उल्लेख करना जरूरी है कि यूरोप के दूसरे इलाकों की तरह इंग्लैंड में उस समय साल में एक ही फसल उगाई जाती थी, जबकि भारत के अनेक इलाकों में एक से ज्यादा फसलें उगाई जा रही थीं।

बेल्लारी जिले के १८०६ के ऑकड़े उस समय की भारतीय अर्थव्यवस्था और उपभोग के ढॉचे के बारे में एक अंदाज दे सकते हैं। ये ऑकड़े इस जिले के लोगों के कुल उपभोग से संबंधित हैं। और फिर वे अंग्रेजों द्वारा तीन वर्गों में बॉटे गए उपभोक्ताओं के उपभोग के बारे में जानकारी देते हैं। पहले वर्ग में उन्होंने अमीर परिवारों को रखा, जिनकी कुल आबादी २५६५६८ थी। दूसरे वर्ग में मझोली हैसियत के परिवार रखे गए जिनकी कुल आबादी ३७२८८७ थी। तीसरे वर्ग में नीची हैसियत वाले परिवारों को रखा गया जिनकी तादाद २१८६८४ थी। सर्वेक्षण के अनुसार तीनों वर्गों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले अनाज की गुणवत्ता और उसके मूल्य में फर्क था लेकिन अनाज की खपत उतनी ही थी, यानी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन आधा सेर अनाज। इस सर्वेक्षण में २३ वस्तुओं को शामिल किया गया था जिसमें दाल, पान, घी, तेल, इमली, हरा और सूखा नारियल, दवाएं, कपड़ा, ईंधन, सब्जियाँ और सुपारी आदि शामिल थीं। इस ब्यौरे के अनुसार छह लोगों के एक औसत परिवार में पहले वर्ग में पान की खपत ६६०० थी, दूसरे वर्ग में ४८०० और तीसरे वर्ग में ३६०० थी। तेल की खपत का अनुपात तीन

और एक–एक था तथा दालों का अनुपात आठ, चार और तीन। प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष कुल खपत पहले वर्ग में १७ रुपए ३ आने और ४ पैसे थी, दूसरे वर्ग में ६ रुपए २ आने और ४ पैसे तथा तीसरे वर्ग में ७ रुपए और ७ आने।

ऊपर दिए गए ऑकड़ों को औसत ही मानना चाहिए क्योंकि यह हो सकता है कि पहले वर्ग में कुछ परिवारों का उपभोग का स्तर औसत से काफी ऊपर रहा हो। अमीर लोगों और साधारण लोगों के उपभोग के स्तर में कितना फर्क होता था इसकी जानकारी १७६६ के कर्नाटक के ऑकड़े भी देते हैं। टीपू सुल्तान के राज्य के बारे में काफी जॉच पड़ताल के बाद अंग्रेज इस नतीजे पर पहुँचे कि टीपू के सबसे ऊँची तनख्वाह पाने वाले अफसर यानी चित्रदुर्ग किले के गवर्नर को कुल सौ रुपए प्रतिमाह वेतन मिलता था। उस समय इस इलाके के साधारण मजदूर को करीब चार रुपए प्रतिमाह मिलता था। अंग्रेजों के आने के बाद यह अंतर कितना बढ़ गया इसे इस तथ्य से समझा जा सकता है कि अंग्रेज जिला कलेक्टर का वेतन १५०० रुपए प्रति माह तय किया गया था और ब्रिटिश गवर्नर की कौंसिल के सदस्य को छह हजार से आठ हजार रुपए मिलते थे जबकि १७६० से १८५० के बीच आम मजदूर या कारीगर को १७६० के मुकाबले एक तिहाई या हद से हद आधी मजदूरी ही मिल रही थी।

यहाँ नई असमानता सिर्फ अंग्रेज अधिकारियों के वेतन तक ही सीमित नहीं थी। जहाँ–जहाँ के बारे में राजकीय नीति तय हुई, ऊँचे भारतीय अधिकारियों के भी वेतन बढ़ा दिए गए। इसका उदाहरण उदयपुर के महाराणा के निजी खर्च में की गई बढ़ोत्तरी से मिल सकता है। अंग्रेजों के संरक्षण में आने से पहले यानी १८१८ तक महाराणा को एक हजार रुपया प्रतिमाह खर्च उपलब्ध था ऐसा बताया जाता है। जैसे ही अंग्रेजों ने उदयपुर को अपने संरक्षण में लिया, राज्य के दूसरे कई खर्चों में तो कटौती कर दी गई या पाबंदी लगा दी गई, लेकिन महाराणा के निजी खर्च को एक हजार रुपया प्रतिदिन कर दिया गया।

अंग्रेजों ने भारत की कोई स्पष्ट शिक्षा नीति बनाने से पहले उस समय मौजूद देशी शिक्षा के कुछ सर्वेक्षण करवाए थे। ऐसा ही एक विस्तृत सर्वेक्षण १८२२–२५ के बीच मद्रास प्रेसीडेंसी में करवाया गया था जिसमें आज का पूरा तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश का काफी बड़ा हिस्सा कर्नाटक,

केरल और उड़ीसा के कई जिले आते थे। सर्वेक्षण से पता लगा कि प्रेसीडेंसी में उस समय तक ११५७५ स्कूल और १०६४ कॉलेज मौजूद थे। उनमें १५७१९५ और ५४३१ विद्यार्थी पढ़ रहे थे। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण जानकारी विद्यार्थियों की जातियों के बारे में मिलती है जो पुरानी भारतीय शिक्षा के बारे में हमारे आज बने हुए पूर्वाग्रहों को तोड़ती है। इस सर्वेक्षण के अनुसार तमिलभाषी इलाकों में स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों में ७० से ८० फीसदी छात्र शूद्र मानी जाने वाली जातियों से थे, उड़ीसा भाषी इलाकों में उनके ६२ फीसदी छात्र थे, मलयालम भाषी क्षेत्रों में ५४ फीसदी और तेलुगू भाषी क्षेत्रों में ३५ से ४० फ़ीसदी।

मद्रास के गवर्नर के हिसाब से स्कूल जाने वाली उम्र के २५ फीसदी लड़के स्कूल जाते थे और इस उम्र के लड़कों और लड़कियों का काफी बड़ा हिस्सा घर पर शिक्षा लेता था। मद्रास के सर्वेक्षण के अनुसार शहर में २६४४६ लड़के घर पर शिक्षा ले रहे थे जबकि स्कूल जाने वाले छात्रों की संख्या ५५२३ थी। इस तरह मालाबार इलाके में घर पर कालेज स्तर की शिक्षा लेने वाले लोगों की संख्या १५६४ थी जबकि कॉलेज जाकर पढ़ने वाले लोगों की संख्या ७५ थी। मालाबार इलाके में स्कूल जाने वाली लड़कियों की भी ऊँची तादाद थी। स्कूल जाने वाले ३१९६ लड़कों के मुकाबले ११२२ लड़कियाँ स्कूल जा रही थीं। इस सर्वेक्षण के ६२ साल बाद यानी १८८४–८५ में स्कूल जाने वाली लड़कियों की संख्या कुल ७०५ रह गई थी। जबकि इस दौरान इस क्षेत्र की जनसंख्या दुगुनी हो चुकी थी।

हो सकता है कि १८ वीं शताब्दी में ऊँची शिक्षा एक अध्यापक द्वारा विद्यार्थियों के छोटे समूहों को पढ़ाने के रूप में दी जाती हो। लेकिन बंगाल के नवद्वीप विश्वविद्यालय की १७६० के आसपास की एक रपट बताती है कि उस समय वहाँ ११०० छात्र पढ़ते थे और विश्वविद्यालय में १५० अध्यापक थे। ऊँची शिक्षा में किस विषय को कितना महत्व दिया जाता था इसका अंदाजा १८३५–३८ के बंगाल और बिहार के पाँच जिलों के आँकड़ों से लगाया जा सकता है जिनके अनुसार सबसे ज्यादा यानी १४२४ छात्र व्याकरण पढ़ रहे थे, ३७८ तर्कशास्त्र और ३३६ विधि।

उत्तर कथन

तो आज तस्वीर इतनी उल्टी क्यों दिखती है?

१७ वीं और १८ वीं शताब्दी के अंग्रेजी दस्तावेजों में भारत के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बारे में जानकारी मिलती है। इसका कुछ श्रेय तो १९२० और १९३० के बीच किए गये काम को है और कुछ विद्वानों द्वारा किये गये ताजा शोध को। इन क्षेत्रों में अब काफी जानकारी हासिल हो गई है। हमें प्राचीन काल में भारत में लोहे और इस्पात के उत्पादन, उसकी श्रेष्ठता और विश्व प्रसिद्धि के बारे में काफी मालूम है। जैसा कि हाल के शोधों से पता लगा है भारत में लोहे का उत्पादन उत्तर–प्रदेश के अतिरंजन खेड़ा जैसे स्थानों पर कम से कम पूर्व की बारहवीं शताब्दी से हो रहा है। लेकिन जिस बात के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है, वह यह है कि १८00 के आसपास भी देश में यह उद्योग काफी बड़े क्षेत्र में खूब फल–फूल रहा था और उत्पादन की तकनीक के मामले में बहुत उन्नत अवस्था में था। एक मोटे अनुमान के अनुसार १८00 के आसपास देश में ऐसी कोई दस हजार भट्ठियाँ थीं जहाँ लोहे और इस्पात का उत्पादन होता था और एक साल में ३५ से ४0 सप्ताह काम कर बीस टन श्रेष्ठ इस्पात एक भट्ठी में पैदा किया जा सकता था। ये भट्ठियाँ काफी हल्की होती थीं और उन्हें बैलगाड़ी में लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जा सकता था।

बहुत से लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १८ वीं शताब्दी में भारत में कृत्रिम तरीके से पानी को ठंडा करके बर्फ बनाई जाती थी। ऐसा हिमालय जैसे ठंडे इलाकों में नहीं बल्कि इलाहाबाद जैसे आम मौसम वाले इलाकों में होता था। १८ वीं शताब्दी में चेचक के टीके लगाने और प्लास्टिक सर्जरी की प्रथा के सुश्रुत और चरक के सैकड़ों साल बाद भी व्यवहार में होने की खबरें भी बहुतेरे लोगों को चकित कर सकती हैं। इनकी तरफ अंग्रेज अधिकारियों का ध्यान सब से पहले पुणे में गया था। इसी तरह का आश्चर्य उस समय की भारतीय कृषि की प्रौद्योगिकी, खेती के उन्नत औजारों

और ऊँची उत्पादकता के बारे में जानकर हो सकता है। १८00 से पहले के एक अंग्रेज कलेक्टर ने खेती के औजार, जिनमें बरमे वाला हल शामिल था, मद्रास प्रेसीडेंसी के जिलों से ब्रिटेन भेजे थे ताकि वहाँ के खेती के औजारों में कुछ सुधार किए जा सकें

इन ऑकड़ों से उस समय की जो तस्वीर बनती है उसका आधार कोई जीवनहीन परम्पराएं या यांत्रिक जीवनशैली नहीं हो सकती। चीजों के प्रति लोगों में एक गहरा दृष्टिकोण जड़ें जमाए हुए था और जब भी इस पर चोट होती थी, लोग विभिन्न तर्कों से अपना विरोध प्रकट करते थे। इन तरीकों में धरना, त्रागा, किसान आंदोलन और आज जिसे हम नागरिक अवज्ञा आंदोलन कहते हैं, सभी दिखाई देते हैं। अंग्रेज अधिकारियों द्वारा १८१0–११ में लगाए गए आवास कर के खिलाफ चले लंबे आंदोलन का केंद्र वाराणसी शहर था। उस समय के सरकारी दस्तावेजों के अनुसार इस आंदोलन के कारण पूरे शहर का कामधाम कई दिन तक ठप्प रहा था और मुर्दों तक को बिना अंतिम संस्कार किए गंगा में प्रवाहित करना पड़ा। बनारस के कलेक्टर के अनुसार कोई २0 हजार लोग लगातार धरने पर बैठे रहे, जबकि एक दूसरे अनुमान के अनुसार सिकरोल और शहर के बीच कोई दो लाख लोग इकट्ठे थे। उस जमाने में कन्नड़, मालाबार और महाराष्ट्र के इलाकों में हुए आंदोलन के ऑकड़े तो काफी ऊँचे हैं।

नमक कर के खिलाफ शुरू के आंदोलनों में सबसे पहला जिक्र सूरत के १८४0 के आंदोलन का मिलता है। एक अनोखा उदाहरण तमिलनाडु के नागौर और नागपत्तम इलाकों के लोगों का है जो १८00 से पहले का है। इन लोगों का मानना था कि भूमि के मामले में उनके साथ अन्याय किया गया है। इसलिए वे मंदिर के स्तूप पर चढ़ गए और वहाँ से कूद कर आत्महत्या करने की धमकी दी। जब उन्हें भरोसा दिलाया गया कि उनके साथ किये गये अन्याय की सुनवाई होगी तो वे नीचे उतरने को राजी हुए। अलबत्ता, नए अंग्रेज कलेक्टर को यह हल रास नहीं आया था। जब लोगों को लगता था कि राज्य के अधिकारियों के किसी कार्य से उनके साथ अन्याय हुआ है तो वे धरना या त्रागा जैसे कदम उठाने को मजबूर होते थे और इसे एक उचित राजनैतिक कार्यवाही माना जाता था व उनकी

शिकायत सुनी जाती थी। लेकिन इस तरह का विरोध प्रदर्शन करने के कम ही मौके आते थे। ऐसा लगता है कि राजनीतिक व्यवस्था में लोगों और राज्य अधिकारियों के बीच गरिमापूर्ण संवाद बनाये रखने की गुंजाइश थी और उसका आधार पुरानी परंपराएं थीं जो अंग्रेजी आधिपत्य के आरम्भिक दिनों में भी कुछ हद तक जीवित दिखाई देती हैं। दक्षिण भारत में राज्याधिकारियों से मिलने आने वाले ग्रामप्रधानों या साधारण किसानों तक को मानद स्वरूप कोई वस्त्र या शाल देने का रिवाज १८०० तक दिखाई देता है। जहाँ अंग्रेजों को यह सद्भावना प्रदर्शन सीखना बाकी था, क्योंकि उनकी राज्य सत्ता पूरी तरह कायम नहीं हुई थी, वहाँ गाँव के लोगों ने खुद उन्हें यह रिवाज अपनाने की सलाह दी और उसका खर्च उठाने के लिए स्वेच्छापूर्वक तैयारी दिखाई, जैसा कि १७८२ में बड़ामहल इलाके में दिखाई देता है। रामताड़ जिले की १७६६ की एक दूसरी रपट के अनुसार जो लोग अंग्रेजी कचहरी में अपने अच्छे आचरण के शपथ पत्र दाखिल करने आते थे वे भी यह उम्मीद करते थे कि राज्याधिकारियों की तरफ से उन्हें पान भेंट किया जाएगा।

मैंने कहा था कि सिर्फ दो शताब्दी पहले भारत के अधिकांश हिस्सों में सुचारु रूप से चलने वाला कियाशील समाज दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि उसकी अपनी कोई समस्याएँ नहीं हैं, कि उसे आतंरिक युद्ध नहीं भुगतने पड़ते थे, कि उसमें कोई सामाजिक और राजनैतिक उपद्रवकारी घटनाएं नहीं होती थीं। एक हद तक वह भी समय–समय पर अस्त–व्यस्त होता रहता था। एक राज्य दूसरे राज्य पर आकमण करता था और देश के अनेक हिंस्से लंबी अवधियों तक ऐसे हमलावरों और दुस्साहसी लोगों के आधिपत्य में आ जाते थे जिनका मुख्य उद्देश्य लूटपाट होता था और वे विजित इलाकों के लोगों की मान्यताओं को जानते–मानते नहीं थे। जब भी इस तरह के अतिकमण हुए, उन्होंने राज्य व्यवस्था और समाज के बीच खाई पैदा की और इस तरह के बाहरी शासनों के लंबे दौर का असर और भी ज्यादा बड़े इलाके पर पड़ा। जो इलाके इस तरह के विदेशी शासन के सीधे असर में ज्यादा समय तक नहीं रहे वहाँ के लोग भी सुरक्षात्मक होने को मजबूर हो जाते थे। उनकी इस सुरक्षात्मकता के कारण राज्य की

शैली में जो परिवर्तन जरूरी हो जाते थे उसके कारण स्थानीय समाज और राज्य व्यवस्था के बीच कुछ खट्टे रिश्ते बनने लगना स्वाभाविक था।

विजय नगर राज्य श्रंगेरी के शंकर मठ के महान आचार्यों के समर्थन और आशीर्वाद से बना था, यह सब लोग जानते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि उसे पड़ोस के उन छोटे राज्यों का भी सहयोग और समर्थन मिला होगा जो दक्षिणी भारत में बाहर के आकमणों को रोकने का उपाय ढूँढ़ रहे थे। इस विजयनगर राज्य ने भी अपना राजस्व बारहवें भाग से बढ़ाकर छठा भाग और फिर चौथा भाग कर दिया था जिसकी धर्मशास्त्रों में बहुत बड़े संकट के समय ही इजाजत दी गई है। उसके इस कदम से उन तनावों को समझा जा सकता है ज़ो इस तरह के सुरक्षात्मक राज्य की नीतियों के कारण पैदा हो रहे थे और जिनसे लोगों पर अनुचित दबाव बढ़ रहा था।

दूसरा उदाहरण १८ वीं शताब्दी में देश के काफी हिस्सों तक फैलते गए मराठाओं का लिया जा सकता है। उन्होंने भारत के दूसरे शासकों को अपने अधीन किया और इसके प्रतीक स्वरूप उनसे चौथा वसूल करना शुरू कर दिया। कई राज्यों ने खासतौर पर राजस्थान के पुराने राज्यों ने इसका विरोध किया। मराठाओं की अधीनता न मानने के ऐसे ही अवसरों पर वे लूटपाट और दमन पर उतरे होंगे। अगर यह मान लिया जाए कि मराठे भारत को आजाद करवाने की कोशिश कर रहे थे और वे इसे पुरानी भारतीय राज व्यवस्था में लौटा लाना चाहते थे और उन्होंने जो कुछ किया वह इसी उद्देश्य के लिए किया, तो उनके ये कृत्य क्षम्य माने जा सकते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि इस तरह के उद्देश्य के बावजूद उन्हें यह नहीं मालूम था कि इसे पाया कैसे जाए ? जो इस बात से साफ है कि उन्होंने मुगलों के तौर–तरीकों को अपनाना शुरू कर दिया था और वे अपने को सुसंगठित भी नहीं रख पाए।

बहरहाल, अस्त–व्यस्तता के इन दौरों के बावजूद भारत का समाज और उसकी राज व्यवस्था १७५० तक और कई इलाकों में तो १८०० तक सुचारु रूप से कियाशील दिखाई देती है। इसकी वजह चाहे यह रही हो कि भारत के अधिकांश रजवाड़े अपने पुराने विचारों और मान्यताओं के

कम से कम मोटे ढॉंचे को बरकरार रखते गये और उनमें अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक प्राथमिकताओं का अहसास कायम रहा। या फिर इसकी वजह रह रही हो कि यूरोपियों के आने से पहले जो भी विदेशी शासक यहॉं आए उनके पास राज्यव्यवस्था का एक ऊपरी ढॉंचा ही था और वह भारतीय समाज में नीचे तक गहरी जड़ें फैलाये राजनैतिक ढॉंचे की जगह नहीं ले सकता था। लोगों का, जिन्हें १८ वीं और १६ वीं शताब्दी में अंग्रेजी की भाषा में जनता के 'निचले वर्ग' कहा जाता था, सामान्य जीवन स्तर अच्छा और १८00 के आसपास ब्रिटेन के उन्हीं वर्गों के मुकाबले बेहतर दिखाई देता है। कृषि उपज ब्रिटेन से ऊॅंची थी और खेती के औजार तथा तरीके विविध और उन्नत थे। कपड़ा उद्योग ही नहीं, दूसरे धंधे जैसे लोहा और इस्पात, विभिन्न रसायन और रंगसाजी का सामान, गुड़ और चीनी, जहाज–निर्माण, वास्तु शिल्प, जलाशय बनाना और नदी व सड़क यातायात आदि इन सब खूबियों से वे पूरी तरह संपन्न थे, जो इन क्षेत्रों में दूसरे देशों में दिखाई दे सकते हैं। जैसा कि हमने अब तक के ऑंकड़ों में देखा है, समाज और राजव्यवस्था बहुत अच्छी तरह संगठित थी और उनकी विभिन्न व्यवस्थाओं का आधार, काफी उन्नत विचार थे।

यह पूछा जा सकता है कि जो बातें मैंने कहीं हैं वे अगर ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं, तो आज हमें भारतीय समाज और राजव्यवस्था की इतनी उलटी तस्वीर क्यों दिखाई देती है? इस बीच असल में दो शताब्दियॉं बीत चुकी हैं जिनमें हम अपने शासक खुद नहीं रहे और हमारे राजा–महाराजाओं, नवाबों, साहूकारों और गुरुओं व पंडितों समेत किसी को सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में किसी तरह की कोई पहल हासिल नहीं रही। इस पूरे दौर में हमारे देश के अधिकांश लोगों को काफी दुःख भुगतने पड़े और वे किसी तरह अपना अस्तित्व भर कायम रख पाए। इसकी झलक दादा भाई नौरोजी, रमेश दत्त की तरह के विख्यात भारतीय लेखकों और १८२४ में थामस मुनरो से लगा कर जान ब्राइट, विलियम डिग्बी और कीर हार्डी तक अनगिनत अंग्रेजों से मिल सकती है।

लूट के लिए बिगाड़ी गई व्यवस्था

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की स्थिति के बारे में जो तथ्य मैंने दिये हैं उनसे क्या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं? अब तक या तो इस तरह के तथ्य अज्ञात थे या उनकी जानबूझकर उपेक्षा की गई थी। इसलिए थामस मुनरो या दादाभाई नैरोजी के ब्यौरों का अपनी–अपनी विचारधाराओं के अनुसार अर्थ लगाया जा सकता है। वाल्तेयर या एडिनबरो के प्रो. डब्ल्यू राबर्टसन जैसे लोगों ने भारतीय सभ्यता, उसके तौर–तरीकों और स्वरूप की जो तारीफ की है उसे छोड़ दिया जाए तो भारत के मूल्याकंन की दो मुख्य पश्चिमी दृष्टियॉं दिखाई पड़ती हैं और दोनों ही भारत को बर्बर मानती हैं। पहली दृष्टि ईसाई धर्म संस्थाओं की है जो ब्रिटेन में विलियम विल्बरफोर्स और उनके बड़े अनुयायियों द्वारा सामने रखी गई। इन लोगों के अनुसार भारत में कोई अच्छाई हो ही नहीं सकती थी और उन्होंने मान रखा था कि भारत अंधविश्वास, अज्ञान, दुःख व बदहाली में डूबा हुआ है। इन सभी विशेषणों का उस समय ईसाइयों के लिए एक ही मतलब था कि भारत ईसाइयत से वंचित है वह दुःख और अज्ञान में तो होगा ही। उनके लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ सकता था कि भारत के लोग सब के सब पढ़े–लिखे और पंडित होते और उनमें से अधिकांश वैभवपूर्ण जीवन जी रहे होते। उनका विश्वास था कि ईसाइयत के बिना इन सब चीजों का कोई मतलब नहीं है। अंग्रेज अफसरों का एक अच्छा–खासा वर्ग और बहुत सारे अंग्रेज लेखक उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक और कुछ तो उससे भी काफी बाद तक इसी राय के रहे हैं।

भारतीय समाज और सभ्यता को लौकिक मानदंडों से देखने वाली दूसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व जेम्स मिल करते हैं। उनके अनुसार किसी सभ्यता की चरम उपलब्धि एक सफल सैनिक सभ्यता हो सकती है। इसलिए भारत की जगह उनके मूल्यांकन में काफी नीची थी। उन्होंने ब्रिटिश भारत का बहुखंडीय इतिहास लिखा है और १८२० के बाद भारत आने वाले सभी अंग्रेज अफसरों को इसे पढ़ना और हजम करना पड़ता था। इसलिए

स्वाभाविक है कि मिल ने भारत के बारे में जो कहा उसका असर उनके दिमाग पर रहता हो।

जेम्स मिल के कुछ दशकों बाद कार्ल मार्क्स हुए। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कोई प्रशंसक नहीं थे, मगर भयभीत सभ्यता को तो वे और भी कम पसंद करते थे। हममें से बहुत से लोगों की तरह अंग्रेजी शासन द्वारा भारत पर ढाई गई मुसीबतों के खिलाफ उन्होंने अपने लेखन में काफी गुस्सा दिखाया है और एक मानवतावादी के नाते उन्हें भारत के लोगों से सहानुभूति भी रही होगी। लेकिन एक वैज्ञानिक सिद्धांतकार के तौर पर उन्हें भारत की किसी चीज में और उसके किसी काम में कोई अच्छाई दिखाई नहीं दी। वे मानते थे कि अंग्रेज शासन चाहे जितना क्रूर रहा हो लेकिन भारत में उसने जो कुछ भी किया वह जरूरी था। और वह भी पश्चिमी मजदूर वर्ग की किसी संस्था के बिना संभव नहीं था।

भारत की पराजय के कारण उसके ज्ञान और शिक्षा के स्तर पर दो बातें हुईं। पहली यह कि परंपरागत भारतीय विद्वान् सामाजिक क्षेत्र से अलग–थलग हो गए और नए संकटपूर्ण वातावरण में जिस हद तक संभव था उस हद तक अपने को बचाते हुए धार्मिक पुस्तकों और कर्मकांड में सीमित होते चले गए। दूसरी बात यह हुई कि १८३० के बाद अंग्रेजी ने भारत में एक नया शिक्षित वर्ग पैदा करना शुरू किया। यह वर्ग बहुत चुने हुए अंग्रेजी शैक्षिक और सांस्कृतिक साहित्य के आधार पर पनपा है। इन अभिजात शिक्षितों ने फिर निचली शिक्षित जमात खड़ी की और चार–छह पीढ़ियों के भीतर जो नया शिक्षित विद्वंत् वर्ग उभर कर आया वह वही कुछ जानता और मानता है जो एक सीमित अंग्रेजी साहित्य के आधार पर उसे बताया गया है। यह हो सकता है कि इस शिक्षित वर्ग में कुछ प्रतिभाशाली भारतीय अपने आप को अंग्रेजों के बराबर समझने लगे और जब उन्होंने उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश की तो वे उनके अलोचक और विरोधी हो गए। इसी संदर्भ में १८७५ में बंगाल के एक प्रमुख गवर्नर ने लिखा था, "स्कूल और कॉलेजों में पढ़कर निकलने वाले लोग एक असंतुष्ट वर्ग में परिवर्तित हो रहे हैं इसमें कोई शक नहीं है। पर इसकी कुछ वजह शायद यह है कि हमारी शिक्षा विधि, प्रशासन, साहित्य जैसी दिशाओं में कुछ

ज्यादा ही प्रवृत्त है जहाँ उन्हें यह गलतफहमी पालने का मौका मिल जाता है कि वे हमारी बराबरी कर सकते हैं। लेकिन हम उन्हें ज्यादा से ज्यादा व्यावहारिक विज्ञान की दिशा में मोड़ने की कोशिश करेंगे ताकि वे महसूस कर सकें कि वे हमसे कितने निम्न कोटि के हैं।"

ऐसा लगता है कि जब व्यावहारिक विज्ञान की पढ़ाई का भी यह नतीजा नहीं निकला तो उन्हें पश्चिमी समाज विज्ञानों की सरलीकृत शिक्षा दी जाने लगी और उसके बाद उतने ही सरलीकृत पश्चिमी दर्शन की और उसके बाद किताबी मार्क्सवाद की, जो आज भी आधी शताब्दी के बाद हमारे पढ़े–लिखे लोगों की सोच–समझ को प्रभावित किए हुए है।

भारत की जो तस्वीर दो सदी पहले के तथ्यों और ऑकड़ों से उभरती है उसमें संदेह का एक दूसरा कारण हमारी 'सत्यमेव जयते' संबंधी मान्यता हो सकती है। अगर अंग्रेजों के पहले का हमारा समाज इतना अच्छा था तो वह पराजित कैसे हो गया ? इस सवाल का कोई सही–सही जवाब नहीं दिया जा सकता, सिवाय इसके कि सत्यमेव जयते का कोई शाब्दिक अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए और उसे एक बड़े परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की कोशिश की जानी चाहिए। सबसे अच्छे तरीकों से संगठित और सबसे ताकतवर समाज भी कभी–कभी दूसरों द्वारा विजित कर लिए जाते हैं। मानव इतिहास इस तरह की घटनाओं से भरा पड़ा है।

अब हम देख सकते हैं कि हमारे वर्तमान के लिए हमारे इस अतीत की क्या प्रासंगिकता है? इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि गाँधीजी या उनके विचारों और मान्यताओं से दूर तक सहमति रखने वाले बाबू भगवानदास जैसे लोग स्वतंत्र भारत के समाज और उसकी राज्य व्यवस्था का जो नक्शा तैयार कर रहे थे वह अपने स्वरूप और ताने–बाने के लिहाज से भारत के उसी समाज और राज्य व्यवस्था जैसा था जो कि अंग्रेजों के आने के पहले भारत में मौजूद था। यह दावा किया जा सकता है कि भारत से सम्बन्धित की गाँधीजी की तस्वीर की बुनियाद गहरी और ज्यादा मजबूत थी। यह भी कहा जा सकता है कि १८ वीं शताब्दी के भारत का समाज और राज्य व्यवस्था का बहुत बड़ा हिस्सा ऐतिहासिक और आध्यात्मिक कारणों से तुलनात्मक रूप से खोखला हो चुका था और अंग्रेजों के आधिपत्य में

पहुँचने तक उसके जैविक गठन और पुनर्रचना की क्षमता काफी घट चुकी थी।

कहा जा सकता है कि १८ वीं शताब्दी के भारतीय समाज और उसकी राज्य व्यवस्था में जैविक बुनावट और पुनर्रचना की क्षमता बची भी होती तो वह लंबे समय तक यूरोप के दबाव और घेरबंदी के सामने टिकी नहीं रह सकती थी। जैसा कि पहले मैं कह चुका हूँ १५00 के बाद दुनिया की दूसरी अधिकांश सभ्यताएं यूरोप के सामने धराशायी होने लगी थीं। इनमें से कुछ सभ्यताएं जैसे कि अमेरिकी, सन् १५00 तक जनसंख्या के ख्याल से उतनी ही बड़ी थी जितनी कि यूरोप की। कुछ दूसरी सभ्यताएं जैसे जापानी, इस यूरोपीय आक्रमण से अपने को तो तीन शताब्दियों तक काटे रखकर ही बच सकीं।

पंद्रहवीं शताब्दी के बाद हुए यूरोप के इस विस्तार का कारण न उसकी तथाकथित वैज्ञानिक जिज्ञासा थी, न पुनर्जागरण काल के दौरान पैदा हुआ तथाकथित ज्ञान और न तथाकथित लोकतांत्रिक मूल्य। १५ वीं शताब्दी में या उसके तीन शताब्दी बाद तक भी यूरोप उन सभी मामलों में दूसरी सभ्यताओं से, जैसे कि चीन से, काफी पीछे था। यूरोप के इस विस्तार की कोई तुलना अगर की जा सकती है तो पैगंबर मुहम्मद की मृत्यु के बाद हुए मुस्लिम विस्तार से शायद की जा सके, या हमारे अपने इस जमाने में १९१७ की रूस की बोल्शेविक क्रांति के बाद मार्क्सवादी राज्य और उसकी मान्यताओं का जो विस्तार हुआ है उससे।

बेगारी करवा के सभ्य समाज को तोड़ा

अंग्रेज जानते थे कि भारत भूगोल और जनसंख्या के मामले में एक विशाल देश है और इसलिए यूरोपीय लोगों के भरोसे इसका पूरी तरह औपनिवेशीकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ के लोगों को पूरी तरह अधीन बनाकर और श्रमिक के तौर पर इस्तेमाल करके वह इस उत्पादक क्षेत्र से कहीं बड़े पैमाने पर फायदे लूट सकता है। यही वजह है कि वे इसे अधीन बनाकर यहाँ से ज्यादा से ज्यादा लूटकर ले जाने के लिए उत्सुक रहे। इस कोशिश में जहाँ जरूरत हुई वहाँ उन्होंने पूरी जनसंख्या को समाप्त कर दिया या अकाल, सूखा और महामारी के भयानक दौरों में निर्ममतापूर्वक उपेक्षा करके बड़े पैमाने पर लोगों को मर जाने दिया। अपने इस आधिपत्य को आसान और टिकाऊ बनाने के लिए उन्होंने पुराने भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था के ताने–बाने को नष्ट कर दिया और उस पर एक ऐसा ढाँचा लाद दिया जिसे यहाँ के लोग न समझ सकते थे और न उसमें पूरी दक्षता हासिल कर सकते थे। इस नए ढाँचे को अंग्रेजों ने खुद अपने यहाँ श्रेणियों में गहरे विभाजित ताने–बाने को खड़ा करने के लिए काफी उपयोगी पाया था। भारत में उसका इस्तेमाल करते हुए उन्होंने इसे एक झूठा भारतीय खोल देने की कोशिश की और मिलते–जुलते भारतीय तत्वों से घोलकर उसे यहाँ औचित्य दिलवाने की कोशिश की।

अंग्रेजों द्वारा भारत के विनाश पर इकट्ठी की गई मेरी आरंभिक सामग्री को देखने के बाद एक बार जयप्रकाश नारायण ने पूछा था कि अंग्रेजों ने इस काम को अधूरा क्यों छोड़ दिया? उस समय मुझे इसका कोई जवाब नहीं सूझा था सिवाय यह कहने के कि शायद १८५७ तक आते–आते वे अपनी इन कोशिशों से इतने पस्त हो चुके थे कि उन्होंने भारत के विनाश की नई तरकीबें ढूँढ़ने की कोशिश छोड़ दी होगी। लेकिन आज मुझे समझ में आता है कि देश के विनाश के इस काम को आधे रास्ते

आकर उन्होंने जानते–बूझते ही छोड़ा था। एक बार जब उनकी यह समझ में आ गया कि यूरोपीय लोगों के जरिए भारत का पूरी तरह उपनिवेशीकरण नहीं किया जा सकता है तो उन्होंने इसे साधनों की लूट का स्थायी माध्यम बनाने की योजना बनाई और यहाँ से वस्तुएं और लोगों को अपने यहाँ के कुछ उद्योगों के इस्तेमाल के लिए ले जाते रहे।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये भारतीय समाज को भीतर से तोड़कर खंड–खंड कर देने की और फिर उन्हें आपस में लड़ाकर पूरे समाज को जड़ अवस्था में पहुँचा देने की जरूरत थी। आज का हर समझदार और अनुभवी प्रशासक जानता है कि किसी भी समाज को जड़ता की स्थिति में पहुँचा देना, जहाँ राज्य की किसी कार्यवाई का नतीजा अधिकांश क्षेत्रों में समाज को टिकाए भर रखना होता है, अंग्रेजों द्वारा बनाई गई राज्य व्यवस्था की खास खूबी है। १९४७ के पहले के ढाँचे में समझ बूझकर पैदा की गई और भी गहरी जड़ता के प्रमाण मिलते हैं जिन्हें अंग्रेजों के छोड़े गए उन दस्तावेजों में देखा जा सकता है जो उनकी ज्यादा उपयोगी विरासत हैं। विंस्टन चर्चिल ने १९४५ में जर्मनी को पराजित करने के बाद उसे पुरानी पशुपालन वाली अवस्था में पहुँचा देने का विचार जाहिर किया था। इससे यूरोपीयों और खासतौर पर अंग्रेजों के प्रभुवर्ग के सोचने–समझने और काम करने के तरीकों की झलक हम पा सकते हैं। चर्चिल ने जर्मनी के संदर्भ में जो सुझाव दिया था वही तौर–तरीका यूरोप ने १५०० के बाद अपने यहाँ समाज में और बाद में दुनिया भर में, जहाँ भी वे पहुँचे इस्तेमाल किया।

पश्चिमी और मध्य अफ्रीका के लोगों के साथ या अमेरिकी महाद्वीप के लोगों के साथ, जिनकी संख्या १५०० ई. के आसपास नौ से बारह करोड़ तक बताई जाती है क्या हुआ, यह एक भयावह कहानी है। लेकिन इन सब तौर–तरीकों का भारत में इस्तेमाल किया गया था; हालाँकि शायद तुलनात्मक रूप से छोटे पैमाने पर। १७६० के बाद अवज्ञाकारी भारतीय सैनिकों पर तोप के मुँह से आग के गोले दागना, अंग्रेज अफसरों को नाराज करने के अपराधी पाए गए भारतीय अफसरों को कोड़े लगाना, गाँव के मुखियाओं और घरेलू नौकरों पर कोड़े फटकारना और अंग्रेजी हुकूमत की मुखालफत करने वाले लोगों को कोड़े मारना, दागना या फाँसी पर चढ़ाना

ऐसे ही तौर–तरीके थे और वे भारत को पूरी तरह अपनी आधीनता में लाने के लिए जरूरी समझे गए थे। इससे भी ज्यादा तबाही की गई बेगार को कानूनी प्रथा बनाकर। अंग्रेजों ने १७६० से लेकर १९२० तक सैनिक और नागरिक जरूरतों के लिए बड़े पैमाने पर लोगों से बेगार ली।

अंग्रेज प्रशासन के एक ऊँचे अधिकारी ने १८८० में बेगार का यह कहते हुए समर्थन किया था कि राज्य की भलाई के लिए लोगों को कुछ कीमत तो चुकानी पड़ेगी। इसके २५ साल बाद अंग्रेज कमांडर इन चीफ ने यह सिफारिश की थी कि छुट्टी पर गए सैनिकों को बेगार से मुक्त रखा जाना चाहिए। इसे रद्द करते हुए एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने तर्क दिया था कि इन इलाकों में मंदिरों के पुजारियों तक को, जिनका सामाजिक स्तर और ज्यादा ऊँचा समझा जाता है जबरन बेगार करनी पड़ती है। लोगों को अपने अधीन करने से भी ज्यादा इन तरीकों की जरूरत उनमें अपनी गरिमा की भावना खत्म कर देने के लिए थी, ताकि उनमें किसी तरह की कोई पहल न रहे।

ऐसा लगता है कि काफी पुराने जमाने से, शायद रोमन काल से, यूरोप में जो लोग ताकत में रहे हैं, उनमें दुनिया को एक तरह का चिड़ियाघर समझने की प्रवृत्ति बन गई है। हालाँकि यूरोप में सत्ता में रहे लोग अक्सर अपने शासितों पर स्नेह और दया भी दिखाते रहे हैं। मगर यह सोचना उनके लिए असंभव रहा है कि जिनको वे अपने से कमजोर मानते हैं उन्हें किसी भी तरह की स्वायत्तता देने के लिए तैयार हों। बहरहाल, इस सवाल पर दार्शनिक लोग ही कुछ ज्यादा जाँच–पड़ताल कर सकते हैं।

अंग्रेजों के शासन में आठ–दस पीढ़ियों तक भारत के लोगों को किस तरह की दुःख और मुसीबतें बर्दाश्त करनी पड़ीं, इनका ज्यादा ब्यौरा देने की जरूरत नहीं है। ऐसी घटनाएँ अनगिनत हैं। इन घटनाओं का एक बड़ा असर यह हुआ है कि उसने हमारे आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को शरीर और मन से बिल्कुल बुझा दिया है और वह एक अर्द्धचेतन अवस्था में पड़ा दिखाई देता है। बंगाली लोगों पर अंग्रेजी शासन के दौरान क्या बीत रही थी, इसकी एक झलक एक बंगाली स्त्री के ब्यौरे से मिलती है जो १८२८ में एक बंगाली अखबार समाचार दर्पण में छपा था। इस स्त्री ने

लिखा था –

"मैं एक बुनकर हूँ। काफी दुःख सहने के बाद मैं यह चिट्ठी आपको लिख रही हूँ। कृपया इसे अपने पत्र में छाप दीजिएगा। मैंने सुना है कि अगर यह आपके यहाँ छप गई तो इसकी आवाज उन लोगों तक पहुँच जाएगी जो मेरी तकलीफ को कुछ कम कर सकते हैं और इस तरह मेरी इच्छा पूरी कर सकते हैं। मेहरबानी करके मुसीबत में पड़ी एक स्त्री की इस चिट्ठी को उपेक्षित मत कीजिएगा।"

"मैं बड़ी बदकिस्मत हूँ। अगर मैं अपनी सब तकलीफों को गिनाने लगूँ तो एक लंबी कहानी हो जाएगी। फिर भी मैं संक्षेप में कुछ कहने की कोशिश करूँगी। जब मैं २२ साल की थी और मेरी तीन लड़कियाँ हो चुकी थीं, मैं विधवा हो गई। मेरे पति मरते समय मेरे सास–ससुर और तीनों बेटियों को पालने–पोसने के लिए कुछ नहीं छोड़ गए थे। मैंने श्राद्ध करने के लिए अपने गहने बेचे। उस समय जब हम भुखमरी की हालत में थे ईश्वर ने मुझे रास्ता दिखाया और मैंने तकली और चर्खे पर कातना शुरू किया।"

"सबेरे मैं घर का कामकाज निपटा कर चर्खे पर कातने बैठ जाती थी और दोपहर को उठती थी। सास–ससुर, और बच्चों को खिलाकर और खुद खाकर मैं फिर तकली कातने बैठ जाती। इस तरह रोज एक तोला सूत कात लेती थी। बुनकर हमारे घर आकर एक रुपया प्रति तोला के हिसाब से उसे ले जाते थे। कभी मुझे अग्रिम पैसे की जरूरत पड़ती तो मैं उनसे माँग सकती थी। इससे हमारे भोजन और कपड़े की चिंताएं मिट गईं।"

"कुछ सालों में मेरे पास २८ रुपये जुड़ गए और मैंने अपनी एक लड़की की शादी कर दी। इसी तरह मैंने अपनी तीनों लड़कियों की शादी कर दी। मैंने अपनी बिरादरी की सभी रस्में पूरी कीं। कोई मेरी लड़कियों को नीची निगाह से नहीं देखता क्योंकि मैंने अपनी जात बिरादरी के लोगों और घटक का जो भी पावना होता है वह सब उन्हें चुका दिया। जब मेरे ससुर मरे तो मैंने ४४ रुपये उनके श्राद्ध पर खर्च किए।"

"यह पैसा मुझे बुनकरों से कर्ज मिला था जिसे मैंने साल–डेढ़ साल में चुका दिया। यह सब चर्खे की ही कृपा थी। अब तीन साल से मैं

और मेरी सास भूखों मरने की हालत में हैं। बुनकर हमारे यहाँ कता सूत लेने नहीं आते। यही नहीं, उसे हम बाजार में बेचने जाएं तो भी वह एक चौथाई दाम पर भी नहीं बिकता। मुझे नहीं मालूम ऐसा कैसे हुआ। मैंने बहुत से लोगों से इसके बारे में पूछा। वे कहते हैं अब बड़े पैमाने पर विलायती सूत मँगाया जाने लगा है। बुनकर उसी को खरीदते हैं और उसी से बुनते हैं। मुझे यह अभिमान था कि विलायती सूत मेरे सूत से बढ़िया नहीं हो सकता। लेकिन जब मैंने देखा तो पाया कि वह मेरे सूत से बढ़िया है। मैंने सुना है कि इसकी कीमत तीन से चार रुपये सेर है। इस पर मैंने अपनी भौहें ऊँची की और कहा कि हे भगवान मुझसे भी ज्यादा दुःखी बहनें इस दुनिया में हैं। मैं तो सोचती थी कि विलायत में सब अमीर लोग ही रहते हैं पर अब मुझे समझ में आता है कि वहाँ मेरी जैसी गरीब स्त्रियाँ हैं।"

"मैं उनकी गरीबी को अच्छी तरह समझती हूँ जिसकी वजह से उन्हें कातने को मजबूर होना पड़ा है। उन्होंने यह सामान हमारे यहाँ इसीलिए बेचा है कि उनके अपने यहाँ इसे बेचने की गुंजाइश नहीं होगी। अगर उनके सूत के यहाँ अच्छे दाम मिलते तो कोई बात होती। लेकिन इसने तो हमें ही मुसीबत में और बर्बादी में डाल दिया है। हमारे यहाँ के लोग इसके कपड़े को दो महीने भी नहीं पहन सकते। यह सड़ जाता है। इसीलिए मैं विलायत में इसे कातने वाले लोगों से यह आग्रह करना चाहती हूँ कि वे सोचें कि उनका यह काम क्या उचित है।"

इस चिट्ठी को गाँधीजी ने १९३१ में यंग इंडिया में छापा था। हो सकता है कि लंकाशायर की स्त्रियों ने १९२१ के विश्वव्यापी मंदी के दौर के बाद कुछ इसी स्त्री की तरह महसूस किया हो जब भारत में विदेशी वस्तुओं के खिलाफ आंदोलन शुरू हुआ था और असहयोग सत्याग्रह चला था। लेकिन यह सोचना शायद गलत नहीं होगा कि १९३१ में जब वे लंकाशायर गए और वहाँ की स्त्रियों से मिले तो उन्हें यह समझा पाये थे कि लंकाशायर ने भारतीय स्त्रियों की हालत एक सदी से भी ज्यादा समय तक उनसे भी खराब बना रखी थी।

देश के ज्यादातर लोगों की इस आर्थिक दुर्दशा का ही यह परिणाम था कि जो लोग इससे ऊपर पहुँचने में सफल हो जाते थे वे बाकी लोगों से

अपने आपको अलग–थलग कर लेते थे। उनकी अपनी स्थिति कमजोर बुनियाद पर टिकी हुई थी। इसलिए वे अपने दुःख में पड़े देशवासियों से कठोरता और निर्ममतापूर्वक ही व्यवहार करते थे।

पराए ढाँचे से नहीं जुड़ते अपने लोग

अंग्रेजों के जमाने में फैली इस आर्थिक दुर्दशा से मुट्ठी भर लोग ही मुक्त हो पाये होंगे। ये लोग जो दूसरों से थोड़े ज्यादा सुरक्षित और सुविधा संपन्न हैं देश की कुल जनसंख्या के एक चौथाई से ज्यादा नहीं होंगे। इन सबने धीरे–धीरे अपने आपको अपनी सभ्यता से अलग–थलग कर लिया है और वे विदेशियों की तरह ही सिविल लाइनों या सैनिक छावनियों अथवा १९४७ के बाद फले–फूले महानगरों में रहने लगे हैं। उन्होंने अपनी जीवनशैली पश्चिम यूरोप के रंग–ढंग में ढाल ली है। कुछ तो बड़े भौंड़े ढंग से पश्चिम की नकल करने लगे हैं। दूसरों में यह नकल कुछ दबी–ढकी रहती है। १८३० में ही एक अंग्रेज वाइसराय बैंटिक इस बात पर बड़ा खुश हुआ था कि बंगाल के अमीर हिंदू परिवारों में ब्राह्मणों को भोजन करवाने की प्रथा घट रही है, मंदिरों को दान देने का रिवाज कम हुआ है और इस सबके बजाय वे यूरोपीय लोगों जैसे दिखाऊ और तड़क–भड़क वाले मनोरंजन की तरफ बढ़ रहे हैं।

इनका एक हास्यास्पद नतीजा देश के किसी भी जिला मुख्यालय और खासतौर पर उत्तर के जिला मुख्यालय में देखा जा सकता है जहाँ कोई दो सौ से चार सौ सरकारी अफसर अपने परिवार सहित रहते हैं। इन लोगों का उस समाज से बहुत कम संपर्क दिखाई देता है जिसकी सेवा के लिए वे वहाँ रखे गए हैं। अगर इन जिला मुख्यालयों में कोई अंग्रेजी स्कूल न हो तो वे अपने बच्चों को दूसरी जगह पढ़ने भेज देते हैं या फिर वे कॉलेज के छात्रावासों में रहते दिखाई देते हैं। इन जगहों पर आधुनिक जिंदगी जीने के लिए जरूरी सांस्कृतिक और शैक्षिक तामझाम कम ही होता है। अच्छे पुस्तकालयों, थियेटर या संगीत भवनों, कलादीर्घाओं, मद्धिम रोशनी वाले महँगे रेस्तरां के बिना अपनी जिंदगी वे काफी असुविधाजनक और नीरस पाते हैं।

ये लोग अपने इलाकों में राज्य की शक्ति और वैभव का

प्रतिनिधित्व जरूर करते हैं। लेकिन आजादी के बाद भी राज्य लोगों के लिए एक निराकार संज्ञा से ज्यादा महत्व हासिल नहीं कर पाया। वह उनमें एक तरह का डर तो जरूर पैदा करता है मगर उसका कोई गहरा और आत्मीय अर्थ आज तक नहीं निकल पाया। इन सरकारी अफसरों के प्रभुताशील वर्ग के पक्ष में यह जरूर कहा जा सकता है कि जिस तरह के गैर आरामदेह और अक्सर भद्दे आकार–प्रकार वाले घरों में और जिन परिस्थितियों में वे रहते हैं या उन्हें जो भी कानूनी और गैर कानूनी पैसा मिलता है, उसे देखते हुए उनका जीवन स्पृहणीय नहीं लगता। उन थोड़े से लोगों की बात जाने दें जो अपेक्षाकृत ऊँची जगह पर बैठे हैं और नीति निर्णायक हैं। ज्यादातर सरकारी अफसर परेशान और करुणाजनक स्थिति में ही दिखाई देते हैं। और किसी भी ऐसे समाज में, जो हमारी तरह दुर्दशा का शिकार और इतना अव्यवस्थित नहीं है, उनकी हालत दयनीय समझी जायगी।

अंग्रेजी राज का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि राज्य के कामकाज में लगा कोई भी आदमी अपने काम को पक्की तरह से नहीं समझता। दूसरी तरफ उसे जो काम सौंपा जाता है उसका देश के सामान्य जीवन से या सामाजिक जीवन से कोई संबंध जुड़ता दिखाई नहीं देता, न समाज की प्राथमिकताओं से उनका कोई लेना–देना नजर आता है। यहाँ तक कि इन लोगों का अपने पारिवारिक जीवन में भी अलगाव जैसा ही रहता है। ये लोग ज्यादातर एक दूसरे से कटे हुए, दो अलग–अलग जीवन जी रहे हैं जो उन्हें भौंचक्का किए हुए है। आमधारणा यह है कि राज्य की सेवा में लगे लोगों की यह विशाल फौज बड़ी आरामदेह और विलासपूर्ण जिंदगी जी रही है या कि राज्य की ताकत का वे मनमाना इस्तेमाल करते हैं। यह धारणा गलत है, अगर हम कुछ व्यक्तियों की परपीड़क इच्छाओं को ही उनका आनंद न मान बैठें।

अलबत्ता, यह सब उन दस–बीस हजार परिवारों के बारे में सही नहीं है जो सरकार की नीतियाँ निर्धारित करने वाली स्थिति में हैं या सरकार के विभिन्न विभागों अथवा सरकारी निगमों को चलाते हैं। उनका भौतिक जीवन स्तर सुख–सुविधा से भरा हुआ सामाजिक प्रतिष्ठा से संपन्न दिखाई

देता है। ये लोग अमीर देशों के अपनी हैसियत वाले लोगों जैसी ही सुविधा संपन्न जिंदगी बिता रहे हैं। इनमें पचास हजार से एक लाख तक वे परिवार भी जोड़े जा सकते हैं, जो उद्योग या व्यापारिक घरानों के मालिक या प्रबंधक हैं या फिर खेती, डेयरी या चाय बागानों के जरिए अमीर बन गए हैं। वकालत, डाक्टरी, शिक्षा या पत्रकारिता में बहुत ऊँची सफलता पाने वाले कुछ लोग भी इस वर्ग में रखे जा सकते हैं।

भारत के इतिहास में और उसकी परंपरा में समाज और राज्य व्यवस्था के बीच इस तरह का भेद और वैमनस्य कभी नहीं रहा। यह खाई तो विदेशी मान्यताओं और विचारों के आधार पर बनी हमारी आज की राज्य व्यवस्था ने पैदा की है। यह राज्य व्यवस्था, जिसे डेढ़–दो सौ बरस पहले अंग्रेजों ने खड़ा किया था, एक मरणासन्न डायनासोर की तरह विपदाकारी बनी हुई है।

यह बात समझी जा सकती है कि आज हम जिन परिस्थितियों में हैं उनमें अंग्रेजों से पहले के भारत की सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं और ढाँचे को दुबारा जिलाना संभव नहीं है। अपनी आध्यात्मिक और भौतिक दुर्दशा को देखते हुए हम गाँधीजी के समय में जिस तरह का भारत खड़ा करने का सपना देख रहे थे उसे शक्ल देना तो और भी मुश्किल है। हम हमारे मन में जबरदस्ती डाली गई इस धारणा के बाद कि हम दुनिया की मेहरबानी पर जी रहे हैं, यह भी जरूरी हो जाता है कि समाज और राज्य व्यवस्था का एक ऐसा वैचारिक ढाँचा खड़ा करें जिसमें दुनिया के लिए भी कुछ अनुकरणीय हो। जब तक हम ऐसा नहीं कर पाते हमें मौजूदा परिस्थितियों में ही अपनी गुंजाइश बनानी पड़ेगी। इसका एक तरीका तो वही है जिसे हम १९४७ के बाद से इस्तेमाल कर रहे हैं यानी पश्चिमी तौर–तरीकों का अनुकरण और उसके बाद भी यह गलतफहमी पाले रहें कि एक दिन हमारा भी समय आएगा। दूसरा तरीका हाल में पहले से भी ज्यादा आत्मविश्वास और जोर के साथ की गई इन घोषणाओं में देखा जा सकता है कि सन् २००१ तक हम पिछले तीन सौ साल में बनी खाई को पाटकर पश्चिम के बराबर जा पहुँचेंगे और फिर उनसे बराबरी के स्तर पर होड़ करने की स्थिति में होंगे।

यह दूसरी भाषा में रखा गया विकल्प उन लोगों को काफी आकर्षक दिखाई दे सकता है जो पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी में शिक्षित और दीक्षित हुए हैं या जो उसके ढाँचे के काम को समझते हैं। लेकिन गहराई में जाकर देखें तो इस तरह का उद्देश्य शायद ही कभी पूरा हो पाता है। इतिहास में या जीवन में कोई लंबी कूद के जरिए इस तरह धैया नहीं छू पाया। जो लोग बेहतर भविष्य की इच्छा रखते हैं वे अपना ही रास्ता ढूँढ़ते हैं। ऐसी परिस्थितियों में जहाँ किसी ताकतवर प्रतिद्वंदी से मुकाबला करना पड़ रहा हो, जैसा कि भारत को पश्चिमी सभ्यता से करना पड़ रहा है तो जरूरत अपने प्रतिद्वंदी से कई कदम आगे जाने की होती है, सिर्फ उसे पकड़ लेने और इतिहास की खाई पाट देने से काम नहीं चलता। हमारे अपने समय में गाँधीजी ने बीस–पच्चीस बरस तक ठीक यही काम किया था। अपनी सेनानायक जैसी विलक्षण प्रतिभा और देशज विचारों और संस्थाओं के जरिए उन्होंने जो सांस्थानिक स्वरूप खड़े किए, अंग्रेजों से लड़ाई की श्रेष्ठ तकनीक दी और सामाजिक, आर्थिक जीवन के वैकल्पिक ढाँचे दिखाए, उनके कारण कोई दो दशक तक अंग्रेजों को सुरक्षात्मक स्थिति में उतर जाना पड़ा। हो सकता है कि गाँधीजी ने जो किया उसे दोहराना संभव न हो, या संभव भी हो तो उससे वर्तमान परिस्थितियों में हमें कोई मदद नहीं मिल सकती। तो भी जितनी जल्दी हम मौजूदा जड़ता और निराशा की परिस्थितियों से अपने समाज और राज्य व्यवस्था को निकाल पाएं उतना ही अच्छा होगा।

इतने महान राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता पाने के कोई चार दशक बाद भी हमारे राज्य में बैठे लोगों को यह समझ में नहीं आया कि यह कोई साम्राज्यवादी राज्य नहीं है। वे किन्हीं वैमनस्य रखने वाले लोगों पर नहीं, बल्कि अपने ही बंधु–बांधवों पर शासन कर रहे हैं और ये लोग उससे जितना अपनापन महसूस करेंगे उतना ही उनके राज्य का औचित्य स्थापित होगा और उनमें आत्मविश्वास तथा शक्ति बढ़ेगी। यह कहने का मतलब पिछले चार दशकों के दौर की किसी तरह की निंदा करना नहीं है। इन तमाम दिनों में जो कुछ हुआ वह तो होना ही था। यह उन दो शताब्दियों की पराधीनता और दुनिया से अपने रिश्ते के टूट जाने से पैदा हुई निराशा का

स्वाभाविक नतीजा था।

हमारी समस्याएँ कई तरह की हैं। जनसंख्या एक समस्या जरूर है क्योंकि हमारे पास वैसा कोई रास्ता नहीं है जैसा अपनी जनसंख्या को दूसरे क्षेत्रों में मोड़ देने के लिए पिछले चार सौ–पाँच सौ बरस यूरोप के पास रहा है या उससे भी पहले इस्लाम के पास था। लेकिन यह सिर्फ एक समस्या है और वह भी शायद सबसे महत्वपूर्ण या लाइलाज नहीं। हमारी सबसे बड़ी समस्या तो अपने समाज और राज्य व्यवस्था के बीच तार जोड़ देने की ही है। इन दोनों को ही ज्यादा मजबूत और देशी जड़ों से निकले भरोसेमंद ढाँचे की जरूरत है। इसके लिए न केवल हमको अपने पुराने विचारों और संस्थाओं या समस्याओं से निपटने के तरीकों को दुबारा जाँचने की जरूरत है बल्कि अपनी पिछली शताब्दियों में अपनी समस्याओं को हल करने के लिए जो हल निकाले थे उन्हें भी देखने की जरूरत है। १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के यशस्वी अध्यक्ष के कहने पर भारत के दूसरे यशस्वी सपूत ने स्वराज की जो रूपरेखा तैयार की थी वह इस तरह की बहस छेड़ने का आरंभ बिंदु बन सकती है।

दुनिया को अपनी नजर से देखना

हमारी राष्ट्रीय निधि और विरासत की ओर इधर ध्यान देने का जो सिलसिला शुरू किया गया है वह स्वागत योग्य है और देश का समर्थन मिलना चाहिए। गंगा की सफाई ऐसा ही एक कार्यक्रम है। लेकिन दो सदियों की उपेक्षा के कारण हुई दुर्दशा को छोटे—मोटे या प्रतीकात्मक कार्यक्रमों के जरिए मिटाया नहीं जा सकता। अपनी इस विरासत को फिर से जीवंत बनाने के लिए उतना ही ध्यान देने और साधन लगाने की जरूरत है जितना हम अपनी सुरक्षा व्यवस्था के लिए करते हैं। इससे भी ज्यादा जरूरी है स्थानीय पहल के आधार पर संगठात्मक ढाँचे को अधिक कुशल और सक्रिय बनाना। हमारे देश को टिकाए रखने और उसकी सुरक्षा के लिए हमारी इस अटूट प्राचीन परंपरा का ज्ञान, उसे फिर से बल प्रदान किया जाना, उसको संरक्षित करना और उसकी फिर से व्याख्या करना हमारी सैनिक व्यवस्था से भी ज्यादा कारगर साबित हो सकती है। हालाँकि सैनिक व्यवस्था की भी आज के जमाने में जरूरत है।

इसी तरह हर साल पाँच लाख हेक्टेयर जमीन पर अगले दस साल तक ऐसे पेड़ लगाना, जो गाँव के और छोटे शहर—कस्बों के लोगों के ईंधन और दूसरी जरूरतों के काम आ सकें, काफी उपयोगी साबित हो सकता है। पिछले दिनों व्यावसायिक उपयोग के पेड़ लगाने का जो फैशन हो गया था, जिनसे कि औद्योगिक जरूरतें ही पूरी होती हों, उनकी जगह इस तरह के कार्यक्रम को उचित जोर देकर और ठीक तरह से चलाया जाए तो इससे हमारे देश के सामान्य लोगों के दुःख—दर्द घटाने में मदद मिलेगी। शिक्षा, स्वास्थ्य और संस्कृति के क्षेत्र में देश की प्रतिभा को पहचान कर उसका ठीक ढंग से विकास करने के केन्द्र भी जिलों—जिलों में विकसित हों, यह अच्छी बात है। हालाँकि आज इस तरह की जो कोशिशें हो रही हैं वे समाज के सीमित वर्ग तक सिमट कर रह जाती हैं और कुछ ही तरह की प्रतिभाओं की तरफ केंद्रित हैं। इस तरह का कोई कार्यक्रम तभी संभव हो सकता है जब हम राज्य की सारी मशीनरी का पुनर्गठन करके जिलों में

रहने वाले दस—बीस हजार राज कर्मचारियों की फौज को जिले की उत्तरदायी संस्थाओं के मातहत कर दें।

ये संस्थाएं तभी राष्ट्रीय हित को बढ़ा सकती हैं जब उनके कामकाज और शैक्षिक कार्यक्रम की पूरी तरह समीक्षा की जाए और उनका हर तरह से भारतीयकरण हो। इन संस्थाओं में काम करने वाले लोगों और उनसे निकलने वाले लोगों में देशभक्ति की भावना होनी चाहिए और अपने देशवासियों से उन्हें सह—अनुभूति होनी चाहिए। आज हमारे देश में ये दोनों ही चीजें दुर्लभ होती जा रही हैं। इनके अलावा जो लोग किसी क्षेत्र के विकास के प्रशासकीय कामों में लगे हुए हैं उनकी स्थानीय निष्ठाएँ हों, यह जरूरी है। उन्हें यह समझना चाहिए कि वे जिन लोगों की सेवा के लिए वहाँ हैं उनके प्रति वे उत्तरदायी भी हैं। इसके बिना हमारे किसी नए संकल्प और कार्यक्रम का कोई अर्थ नहीं निकल सकता।

हमें अपने अफसरों और दूसरे राजकीय कर्मचारियों का आए दिन इधर से उधर अनावश्यक तबादला करते रहने की आदत भी छोड़नी चाहिए। अंग्रेजों को अपनी अपराजेयता दिखाने के लिए अपनी फौजें लगातार लंबे रास्तों पर दौड़ाते रहनी पड़ती थी या अपने ऊँचे नागरिक अफसरों को इधर से उधर बदलते रहना पड़ता था, क्योंकि या तो वे जल्दी अलोकप्रिय हो जाते थे या स्थानीय स्तर पर इतने घुलने—मिलने लगते थे कि ब्रिटिश हुकूमत के उतने काम के नहीं रह जाते थे। उन्हीं की नकल करते हुए हम भी इस निरर्थक और अनुपयोगी परंपरा को कायम रखें तो उसके नुकसान ही होंगे। कोई डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक या पुलिस कर्मचारी जहाँ की सेवा के लिए नियुक्त हुआ है वहाँ लंबे समय तक रहे तो समाज के ज्यादा काम आ सकता है। यह मान्यता कि अगर उसे एक जगह रहने दिया जाए तो वह भ्रष्ट हो जाता है, शोषण करने लगता है या निकम्मा बन जाता है, गलत है और यह १६४७ में हुए सत्ता के परिवर्तन के समय विरासत में मिली एक नुकसानदेह प्रशासनिक परंपरा है।

अगर ये कदम उठाए जाएं और इस तरह से राजनैतिक और दूसरे क्षेत्रों को पुनर्गठित किया जाएं तो उससे इमारतें खड़ी करने की जरूरत भी काफी घट जाएगी। इन इमारतों का निर्माण और उनका

रखरखाव आज हमारी सरकारों, खासतौर से केंद्रीय सरकार के कामकाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा हो गया है। अंग्रेजों को विदेशी होने के नाते बहुत सारी इमारतें और डाक बंगले आदि बनाने पड़े क्योंकि भारत पर कब्जावर होने के नाते अपने सैनिक और नागरिक अफसरों और राज्य व्यवस्था के दूसरे लोगों के लिए अलग से ऐसी व्यवस्था करने की जरूरत थी। इस तरह के फिजूलखर्च और हमारे राष्ट्रीय साधनों को बर्बाद करने वाले कामों की हमें जरूरत नहीं होनी चाहिए। अलबत्ता, आजादी के बाद इन इमारतों में दस–बीस गुना वृद्धि हो चुकी है। इसे या तो १९४७ से राज कर रहे लोगों की विचारहीनता कहा जा सकता है या इसका कारण यह है कि हम यांत्रिक तरीके से पुराने तौर–तरीकों को दोहराते जा रहे हैं। भारत कम से कम राष्ट्रमंडल में अकेला ऐसा देश दिखाई देता है जहाँ संसद और विधायिकाओं के सदस्यों को राजधानियों में स्थायी निवास की सुविधा दी जाती हो। यह आश्चर्य की बात है कि चुने जाने के साल–डेढ़ साल के भीतर उनमें से ज्यादातर राजधानियों में रहने लगते हैं और अपने मतदाताओं से उनका मामूली संपर्क ही बचता है। इस तरह की परंपराओं और लोगों से कटे हुए ढाँचे के कारण हमारी राज्य व्यवस्था का सबसे बड़ा काम उन लोगों की सुख–सुविधा देखना–भालना ही रह गया है जो राज्य की नीति निर्धारित करते हैं या उस पर अमल करने के लिए रखे गए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह ढाँचा अंग्रेजों ने इसलिए बनाया था ताकि लोगों की सक्रियता को न्यूनतम रखा जा सके और राज्य की शांति की गारंटी हो सके। इस तरह के ढाँचे में यह स्वाभाविक ही है कि राज्य की नीति निर्धारित करने वाले लोग और उनके मातहत सबसे ज्यादा जोर अपनी सुरक्षा और सुख–सुविधा पर दें। यही वजह है कि राज्य की अधिकांश कोशिश अपने ही लोगों को उनके स्तर के अनुरूप सुविधाएं जुटाने में और उन्हें लोगों से दूर और सुरक्षित रखने की होती है। इसका नतीजा यह होता है कि राज्य व्यवस्था लोगों के लिए हो, ऐसा नहीं लगता बल्कि ऐसा लगता है कि जो लोग राज्य के लिए उपयोगी हैं उन्हीं को रहने का अधिकार मिला हुआ है।

इस पूरी व्यवस्था का पुनर्गठन तो लंबा काम है लेकिन जो काम

फौरन शुरू कर देना चाहिए वह है, राज्य और खासतौर पर केंद्र सरकार के कामकाज और दायित्वों के बोझ को घटाना जो पिछले सालों में लगातार बढ़ते गए हैं। ऐसे बहुत से काम हैं जिन्हें आज केंद्र सरकार ओढ़े हुए है जबकि उन्हें स्थानीय स्तर पर कहीं अधिक कारगर ढंग से किया जा सकता है। केन्द्र और स्थानीय प्रशासन के बीच काम का और अधिकारों का जो असंतुलन पैदा हो गया है उसे फौरन सुधारने की जरूरत है। जिस अनुपात में काम राष्ट्रीय संस्थाओं से लेकर नीचे की और स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जाएगा, उसी अनुपात में हमारी व्यवस्था अधिक कार्यक्षम दिखाई देगी।

अपने आपको कार्यक्षम बनाने के लिए भारत को अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग तरह के विकल्पों का इस्तेमाल करना पड़ेगा और कई बार अंतर्विरोधी विकल्पों का भी। जहाँ यह जरूरी है कि हम अपनी पुरानी संस्थाओं और प्रौद्योगिकी की व्यवस्था की तरफ ध्यान दें और उसको बढ़ावा दें, वहीं आधुनिक संस्थाओं और प्रौद्योगिकी को पूरी तरह समझने और उसमें सुधार–परिष्कार करने की जरूरत हो सकती है। यह दूसरी तरह की कुशलता हमें दुनिया में बराबरी की जगह दिलवा सकती है जबकि अपने लोगों की प्रतिभा को निखारने और उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए पहला तरीका ही काम आ सकता है। एक बार वे अपने आत्मविश्वास को जगाकर अपने पैरों पर खड़े हो जाएं तो उनके लिए बाहर से क्या लेना चाहिए क्या नहीं, इसका सही फैसला करना आसान होगा और वे उसे अपने ढाँचे के अनुरूप ढालकर उसका इस्तेमाल कर सकेंगे। इस तरह इन विरोधी दिशाओं में जानेवाली धाराओं में संगति बैठ सकती है। इसके बाद हमारे देश की जिंदगी देसी तरीकों से अनुशासित होती है या बाहर के अपने अनुरूप ढाल लिए गए तरीकों से, यह सिर्फ एक शैक्षिक बहस ही रह जाएगी।

भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था को एक दूसरे से जोड़कर उसका इस तरह पुनर्गठन करने में अपने अतीत का ज्ञान हमें काफी लाभकारी साबित हो सकता है। उससे हमें यह समझने में मदद मिल सकती है कि हमारी उपलब्धियाँ और असफलताएं क्या रही हैं ? अलबत्ता, सिर्फ अपने

बारे में ऐसी जानकारी, फिर वह चाहे कितनी ही विस्तृत क्यों न हो, अपने आप एक आत्मनिर्भर और संपन्न देश बनाने में हमारी मदद नहीं कर सकती। उसके लिए हमें पूरी दुनियाँ के बारे में समझ हासिल करना जरूरी है और वह भी सिर्फ दूसरों की व्याख्याओं से नहीं, दुनिया को हमें अपनी निगाह से देखना और समझना पड़ेगा। इसी तरह बाहर के बहुत से विद्वान, जिनमें सोवियत रूस, जापान या दूसरे अनेक देशों के विद्वान हैं, यहाँ आकर भारत की पुरानी संस्थाओं और तौर–तरीकों के बारे में जानने–समझने की कोशिश कर रहे हैं, यह अच्छी बात है। उनके काम से हमें काफी मदद भी मिल सकती है। लेकिन, अपने अतीत की कोई जाँच–पड़ताल तभी हमारे लिए अधिक उपयोगी हो सकती है जब हमारे विद्वान और पंडित यह काम करना शुरू करें।